श्री देशभूषण स्याद्वाद ग्रन्थमाला-ग्रन्थांक १

रत्नाकर शतक

रत्नाकराधीश्वर शतक

प्रथम भाग

अनुवादक और सम्पादक :-

स्वस्ति श्री १०८ आचार्य देशभूषण महाराज

सहायक सम्पादक -

ज्योतिषाचार्य प० नेमिचन्द्र शास्त्री,

न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, आरा।
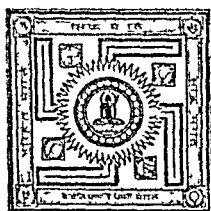
स्याद्वाद प्रकाशन मन्दिर आरा

वी० स० २४७६।

श्री देशभूषण स्याद्वाद ग्रन्थमाला ग्रन्थाङ्क १

प्रकाशक—श्री स्याद्वाद प्रकाशन मन्दिर, आरा।

प्रथमा वृत्ति

वि० सं० २००६ पौष शुक्ला द्वितीया

श्री सरस्वती प्रिंटिंग वर्क्स् लि०, आरा।
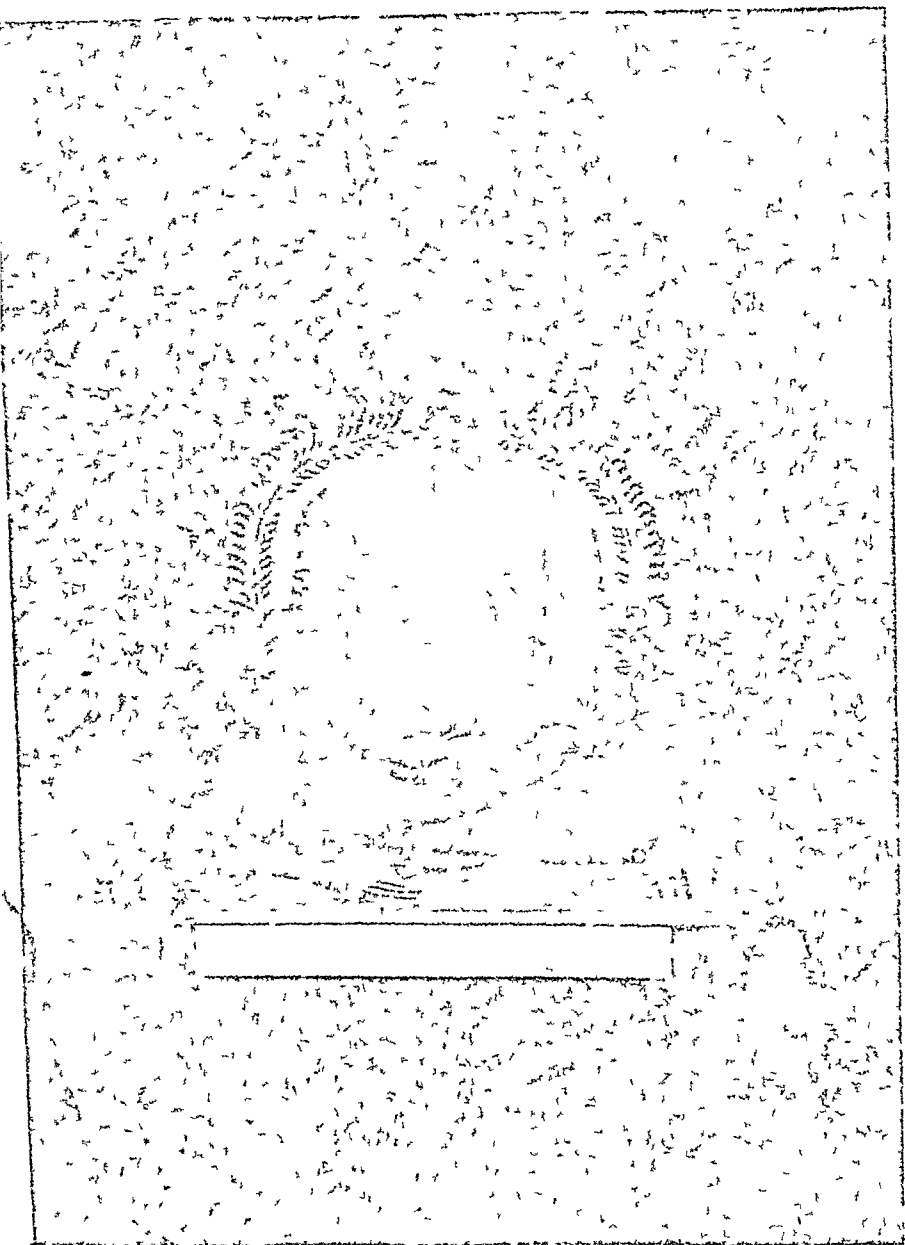
स्वस्तिश्री १०८ आचार्य देशभूषण महाराज

आमुख

वर्तमान युग साहित्य प्रकाशन का युग है । आज सभ्य कहलानेवाले सभी देशों में साहित्य निर्माण की होड़-सी लगी है। रोज हज़ारों नहीं, बल्कि लाखों ग्रन्थ छप रहे है । भारत में भी स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से प्रतिदिन एक न एक नयी पुस्तक अवश्य प्रकाशित हो जाती है । नयी-नयी पत्रिकाएँ भी निकल रही है। इस प्रकार साहित्यिक क्षेत्र में घुड़दौड मची है।

जैन समाज का ध्यान भी साहित्य प्रकाशन की ओर इधर कुछ समय से गया है। श्वेताम्बर आम्नायवालों ने दिगम्बर आम्नाय-वालों की अपेक्षा इस क्षेत्र में पहले प्रवेश किया, जिससे आज के अधिकाश अन्वेषक विद्वान् श्वेताम्बर साहित्य से अधिक परिचित है। इस आम्नाय का समग्र प्राचीन साहित्य प्रकाशित हो ही गया है, नवीन साहित्य का निर्माण भी हो रहा है। पर हम दिगम्बर आम्नाय के अनुयायी इतने पिछड़े हुए है कि हमारे समृद्धशाली प्राचीन साहित्य के प्रकाशन में अभी कई दशक लगेंगे, नवीन साहित्य का निर्माण कब होगा ? इसका पता नहीं।

हमारे इस पिछड़ने का प्रमुख कारण हमारी अनैक्यता और उदासीनता ही है । बहुत समय तक तो हम इसी शंका में पड़े रहे कि ग्रन्थ छापने से अशुद्ध हो जायँगे । अतः हमने अपने

उच्च सैद्धान्तिक और दार्शनिक ग्रन्थों को भण्डारों में छिपाकर रखा। फलतः अनेक ग्रन्थराज प्रकाश और धूप के न मिलने से दीमकों के पेट में चले गये।

दिगम्बर समाज काफी समृद्धशाली है। इस समाज में प्रति वर्ष सहस्रों रुपये का दान होता है, पर इस दान का वास्तविक सदुपयोग कम ही लोग करते है। साहित्य किसी भी देश, समाज और धर्म को जीवित रखने का साधन है। यदि किसी देश, धर्म या समाज को नष्ट करना है, तो उसका सरल उपाय उसके साहित्य को नष्ट कर देना है। दि० जैन समाज के नेताओ ने दीर्घकाल तक इस ओर दृष्टि नहीं डाली, जिसका परिणाम यह हुआ है कि आज हम और लोगों से बहुत पीछे है। यद्यपि अब सौभाग्य से दि० जैन सघ मथुरा, वीर-सेवा-मन्दिर सरसावा, जैन साहित्योद्धारक कार्यालय अमरावती, भारतीय ज्ञानपीठ काशी आदि संस्थाएँ दि० जैन साहित्य के प्रकाशन में कटिबद्ध हैं, तो भी हमें इतने से सतोष नहीं करना चाहिये। हम अपनी इस मन्थर गति से अभी कम से कम कई दशको में अपने मूल ग्रन्थो का ही प्रकाशन कर पायेंगे।

जिस प्रकार श्वेताम्बर साहित्य गुजराती भाषा में उपलब्ध है, उसी प्रकार दिगम्बर साहित्य कन्नड भाषा में। इस भाषा में सैद्धान्तिक एव दार्शनिक ग्रन्थो के अतिरिक्त ज्योतिष, व्याकरण,

वैद्यक, नीति, शिल्पशास्त्र, साहित्य आदि विषयों के भी सैकड़ों ग्रन्थ है। इन ग्रन्थों के प्रकाशन से जैन साहित्य के अनुपम रत्नों की जगमगाहट समस्त साहित्यिक जगत् को चमत्कृत किये बिना न रहेगी। आज आवश्यकता इस बात की है कि ये कन्नड़ भाषा के ग्रन्थरत्न हिन्दी में अनूदित होकर जनता के समक्ष रखे जायँ?

वर्षों से मेरा तथा मेरे दो-चार मित्रों का विचार था कि लोक भाषाओं में लिखित दिगम्बर साहित्य को हिन्दी में अनुवाद कर प्रकाशित किया जाय। परन्तु समुचित सहयोग न मिलने से मेरा और मेरे साथियों का उक्त विचार पूरा न हो सका। सौभाग्य से श्री सम्मेद शिखर की यात्रा करते हुए गत मई मास में श्री १०८ आचार्य देशभूषण महाराज ससंघ यहाँ पधारे। आप कन्नड भाषा के अच्छे विद्वान् है तथा साहित्य से आपको विशेष अभिरुचि है। यहाँ क श्री जैन-सिद्धान्त-भवन के विशाल संग्रह का आपने अवलोकन किया तथा श्री पं० नेमिचन्द्र शास्त्री से परामर्श कर धर्मामृत एवं रत्नाकर शतक का हिन्दी अनुवाद करने का विचार स्थिर किया।

दोनों ग्रन्थों का अनुवाद कार्य पूर्ण हो गया है तथा इनका प्रकाशन किया जा रहा है। प्रकाशन व्यवस्था के लिये मुनि सघ के आहार दान के समय उदार दानी श्रावकों ने दान में जो रकम

दी तथा ग्रन्थ प्रकाशन के निमित्त जो रकम मिली है उसीमे इस ग्रन्थ-माला का कार्य प्रारम्भ किया गया है। हम लोगों ने आचार्य महाराज के नाम पर उनकी स्मृति सर्वदा कायम रखने के लिये इस-ग्रन्थ माला का नाम 'श्री देशभूषण स्याद्वाद ग्रन्थमाला' रखा है। तथा इस ग्रन्थमाला के ग्रन्थों के प्रकाशन के लिये 'श्री स्याद्वाद प्रकाशन मन्दिर आरा' की स्थापना की है।

इस ग्रन्थमाला का सर्व प्रथम ग्रन्थ रत्नाकर शतक है, जिसका प्रथम भाग हम पाठकों के समक्ष रख रहे है। यह ग्रन्थ चार भागों में प्रकाशित होगा। इसके प्रकाशन का पूरा व्यय श्रीमती चम्पामणि देवी धर्मपत्नी स्वर्गीय श्रीमान् बाबू भानुकुमार चन्द जी ने प्रदान किया है, जिसके लिये हम ग्रन्थमाला की ओर से इस दान की प्रेरणा करनेवाले श्रीमान् बा० नरेन्द्रकुमार जी जैन मैनेजर बैंक ऑफ बिहार तथा दान कर्त्री श्रीमती चम्पामणि देवी को धन्यवाद प्रदान करते है। आशा है आप आगे भी जैन साहित्य के सम्बर्द्धन के लिये ऐसी ही उदारता दिखलायेंगीं।

हम इस सम्बन्ध में विशेष न लिख कर इतना ही और कह देना चाहते है कि दि० समाज में श्रीमान् और धीमानों की कमी नहीं। यदि इन दोनों का सहयोग हमें मिलता रहा तो हम अपने उद्देश्य में अवश्य सफल होंगे। स्याद्वाद प्रकाशन मन्दिर आरा का ध्येय केवल दिगम्बर जैन आम्नाय के प्राचीन ग्रन्थों का हिन्दी अनु-

वाद प्रकाशित करना तथा युग के अनुसार इस आम्नाय के अनुकूल नवीन साहित्य का प्रकाशन करना है। हमें विश्वास है कि यदि पूज्य आचार्य महाराज का आशीर्वाद मिलता रहा तो इस प्रकाशन मन्दिर से प्रति वर्ष दो-चार ग्रन्थ अवश्य प्रकाशित होते रहेंगे।

जैनेन्द्र भवन
२५ दिसम्बर १९४९

जिनवाणी-भक्तः—
देवेन्द्रकिशोर जैन
मंत्री
श्री देशभूषण स्याद्वाद ग्रन्थमाला, आरा

स्व० श्रीमान् बाबू भानुकुमारचन्द

तथा

धर्मपत्नी श्रीमती चम्पारानी देवी

इस ग्रन्थ के प्रकाशन-व्ययदात्री का परिचय

आज से कुछ समय पूर्व आरा नगरी में श्रीमान् बा० विष्णु-चन्द जी नामक एक धार्मिक एवं उदार धनी-मानी श्रावक रहते थे। आप को एक लड़की के सिवा और कोई सन्तान नही थी। आपका विचार एक धार्मिक ट्रष्ट करने का था पर अचानक मृत्यु के कारण आप ऐसा न कर सके। आप की बहन श्रीमती मैना-सुन्दर भी बडी धार्मिक प्रकृति की देवी थी। इन्होंने अपने जीवन में आरा में एक धर्मशाला और एक मन्दिर बनाने के लिये अपनी सारी चल और अचल सम्पत्ति का ट्रष्ट बनाकर अपने पूज्य भ्राता श्रीमान् बा० विष्णुचन्द जी को मुतवली बनाया।

श्रीमान् बा० विष्णुचन्द के मरने के उपरान्त आपकी सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी आपकी धर्मपत्नी श्रीमती लालमनो बीबी हुई। आपने भी शक्ति अनुसार दान-पुण्य किया। आप-का मृत्यु के पश्चात् सब सम्पत्ति आपकी सुपुत्री श्रीमती चम्पा-मनी बीबी और दामाद श्रीमान ब० भानुकुमार चन्द जी को मिली। श्रीमान बा० भानुकुमार जी ने अपने जीवन में स्वर्गीय मैनासुन्दर का मन्दिर बनाकर अपने रुपयों से उसकी प्रतिष्ठा कराई तथा मैनासुन्दर धर्मशाला (मैनासुन्दर भवन) आरा भी आपके समय में ही तैयार हुई। इन सब धर्म कार्यों का श्रेय श्रीमान बा० भानुकुमार

चन्द जी को है। आप की मृत्यु भी अचानक हुई इस कारण अन्यान्य धर्म कार्य जो आप चाहते थे, नहीं कर सके।

श्रीमती चम्पामनी बीबी धार्मिक और उदार प्रकृति की है। आपने पावापुरी धर्मशाला में कमरा बनाने के लिये तीन हजार रुपयों का दान किया है। आपने रत्नाकर शतक के मुद्रण का पूरा खर्च देना स्वीकार किया है। श्रीमान बा० नरेन्द्रकुमार जैन मैनेजर विहार बैंक बा० भानुकुमार जी के एकमात्र भतीजे है और इस समय सारा कारोबार आपके देख-भाल में है, आप लगन के व्यक्ति हैं आपके हृदय में जैन साहित्य के प्रकाशन की प्रबल आकान्ना है। आप उक्त माताजी को सर्वदा सुयोग धर्म-कार्यों में दान देने की प्रेरणा करते रहते है। आप निरंतर यही कहते रहते है कि जैसे हो सके जैन धर्म और जैन साहित्य का प्रचार एव प्रसार हो। श्री वीरप्रभु की भक्ति एवं श्री १०८ आचार्य देशभूषण महाराज का आशीर्वाद आपकी भावना को सबल बनायेंगे।

प्रस्तावना

संसार के सभी प्राणी अहर्निश सुख प्राप्ति के लिये प्रयत्न
र रहे हैं । सुख के प्रधान साधन धर्म, अर्थ और काम इन
नों पुरुषार्थों का सेवन कर मनुष्य सुखी हो सकता है। पर
ाज भौतिकवाद के युग में धर्म पुरुषार्थ की अवहेलना कर मानव
वल अर्थ और काम पुरुषार्थ के अबाध सेवन द्वारा सुखी होने का
वप्न देख रहा है। निर्धन धन के लिये छटपटाते हैं तो धनवान
ोनेका महल बनाना चाहते है, वे रात-दिन धन की तृष्णा में
ूबे हुए है । करोड़ों और अरबों भूख, दरिद्रता, रोग और
उत्पीड़न-चक्र में नियमितरूप से पिसकर नष्ट हो रहे है। एक
ओर कुछ लोग अपनी वासनाओं को उद्दाम एव असंयत बनाते जा
हे है तो दूसरी ओर फूल सी सुकुमार देवियाँ नारकीय जीवन
व्यतीत कर रही है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी तृष्णा और अभिलाषा
को उत्तरोत्तर बढ़ाता जा रहा है । आवश्यकताएँ उत्तरोत्तर बढ़ती
जा रही है और आवश्यकताओ के अनुसार ही संचय-वृत्ति अनि-
यन्त्रित होती जा रही है। इस प्रकार कोई अभाव जन्य दु:ख
से दु:खी है तो कोई तृष्णा के कारण कराह रहा है। एक ससार
में सन्तान के अभाव से दु:खी होकर रोता है, तो दूसरा कुसन्तान

को बुराईओं से त्रस्त होकर, इस प्रकार अर्थ और काम पुरुषार्थ का एकांगी सेवन सुख के स्थान में दु:खदायक हो रहा है।

मनुष्य को वास्तविक शान्ति धर्म पुरुषार्थ के सेवन द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। अर्थ और काम पुरुषार्थ आंशिक सुख दे सकते हैं, पर वास्तविक सुख धर्म के धारण करने पर ही मिल सकता है। जैनाचार्यों ने वास्तविक धर्म आत्मधर्म को ही बताया है। इस आत्मा को संसार के समस्त पदार्थों से भिन्न अनुभव कर विवेक प्राप्त करना तथा आत्मा में ही विचरण करना धर्म है। इसी धर्म के द्वारा शान्ति और सुख मिल सकता है। जैन साहित्य में आध्यात्मिक विषयों को निरूपण करनेवाले अनेक ग्रन्थ है। समयसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय, परमात्म प्रकाश, समाधितन्त्र, आत्मानुशासन, इष्टोपदेश आदि आर्ष ग्रन्थों में आत्मतत्त्व का स्वरूप, संसार के पदार्थों से भिन्नता एवं उसकी प्राप्ति की साधन प्रक्रिया विस्तार पूर्वक बतायी है। कन्नड भाषा में भी आत्मतत्त्व के ऊपर कई ग्रन्थ है।

कविवर बन्धुवर्मा और रत्नाकर वर्णी जैसे प्रमुख आध्यात्मप्रेमियों ने कन्नड भाषा में अध्यात्म विषयक अनेक रचनाएँ लिखी हैं। यों तो प्राचीन कन्नड़ साहित्य को उच्च एव प्रौढ़ बनाने का सारा श्रेय जैनाचार्यों को ही है। जैनाचार्यों ने कन्नड़ भाषा का उद्धार और प्रसार ही नहीं किया है, बल्कि पुराण, दर्शन,

आध्यात्म, व्याकरण, साहित्य, ज्योतिष, वैद्यक, गणित प्रभृति विषयों का शृंखलाबद्ध प्रतिपादन कर जैन साहित्य के भाण्डार को भरा है। दिगम्बर जैन साहित्य का अधिकांश श्रेष्ठ साहित्य कन्नड़ भाषा में है। पम्प, रन्न, पोन्न, जन्न, नागचन्द्र, कर्णपार्य, अग्गल, आचरण, बन्धुवर्मा, पार्श्वपंडित, नयसेन, मङ्गरस, भास्कर, पद्मनाभ, चन्द्रम, श्रीधर, साल्व, अभिनवचन्द्र आदि कवि और आचार्यों ने अनेक अमूल्य रचनाओं द्वारा जैन साहित्य की श्रीवृद्धि में योगदान दिया है। देशी भाषाओं में सबसे अधिक जैन साहित्य कन्नड भाषा में ही उपलब्ध है। यदि इस भाषा के अमूल्य ग्रन्थ-रत्न अनूदित कर हिन्दी भाषा में रखे जायें तो जैन साहित्य के अनेक गुप्त रहस्य साहित्य प्रेमियों के सम्मुख उपस्थित हो सकते है।

प्रस्तुत ग्रन्थ रत्नाकर शतक एक आध्यात्मिक रचना है। कवि रत्नाकरवर्णी ने कन्नड़ भाषा में तीन शतकों का निर्माण किया है—रत्नाकराधीश्वर शतक, अपराजित शतक और त्रैलोकेश्वर शतक। इन तीनों शतकों का नाम कवि के नाम पर रत्नाकर शतक रखा गया है।

पहले रत्नाकराधीश्वर शतक में वैराग्य, नीति और आत्म तत्त्व का निरूपण है। दूसरे अपराजित शतक में अध्यात्म और वेदान्त का विस्तार सहित प्रतिपादन किया गया है। तीसरे त्रैलोक्येश्वर

शतक में भोग और त्रैलोक्य का आकार-प्रकार, लोक की लम्बाई चौडाई आदि का कथन किया गया है। प्रत्येक शतक में एक-सौ अट्ठाईस पद्य हैं।

रत्नाकराधीश्वर शतक का विषय निरूपण

इस शतक में १२८ पद्य है, जिनमें से प्रथम भाग में केवल ५० पद्य ही दिये जा रहे हैं। यों तो इस समस्त ग्रन्थ में-आत्म तत्त्व और वैराग्य का प्रतिपादन किया गया है; पर यहाँ पर इस प्रथम भाग में आये हुए पद्यों का सङ्क्षिप्त सार ही दिया जायेगा। यह ग्रन्थ आत्म-तत्त्व के रसिकों के लिये अत्यन्त उपादेय होगा, कोई भी साधक इसके अध्ययन द्वारा आत्मोत्थान की प्रेरणा प्राप्त कर सकता है।

प्रथम पद्य में वस्त्राभरणों द्वारा शरीर को अलंकृत करने की निस्सारता का निरूपण करते हुए रत्नत्रय के धारण करने पर जोर दिया है। यह शरीर इतना अपवित्र है कि सुन्दर, सुगन्धित वस्तुएँ इसके स्पर्शमात्र से अपवित्रित हो जाती हैं। अतः वस्त्राभूषण इसके अलकार नहीं, किन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही इसे सुशोभित कर सकते है। ये ही आत्मा के सच्चे कल्याणकारी अलङ्कार है। दूसरे पद्य में रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के स्वरूप का कथन किया है।

"ज्ञान, दर्शन, मय एक अविनाशी आत्मा ही मेरा है। शुभाशुभ कर्मों के संयोग से उत्पन्न हुए शेष सभी पदार्थ बाह्य हैं—मुझ से भिन्न हैं, मेरे नहीं हैं" पर विशेष जोर दिया गया है।

तीसरे पद्य में सात तत्त्व, छः द्रव्य, पाँच अस्तिकाय और नौ पदार्थों का स्वरूप विस्तार सहित बताया गया है। चौथे पद्य में बताया है कि आत्मा की स्थिति को ज्ञान के द्वारा देख सकते हैं। जिस प्रकार स्थूल शरीर इन चर्म चक्षुओं को गोचर है, उस प्रकार आत्मा गोचर नहीं है। स्थूल के पीछे सूक्ष्म इस प्रकार विद्यमान है जिस प्रकार पत्थर में सोना, पुष्प में पराग, दूध में सुगन्ध तथा घी और लकड़ी में आग। शरीर के अन्दर आत्मा की स्थिति को इस प्रकार जानकर अभ्यास करने से आत्मा की प्रतीति होने लगती है। पाचवें पद्य में बताया है कि आत्मा शरीर से भिन्न ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणों का धारी होने पर भी कर्मों के बन्धन के कारण इस शरीर में निवास कर रहा है, इसकी अनुभूति भेद विज्ञान द्वारा की जा सकती है। छठवें पद्य में बताया है कि जैसे कनकोपल के शोधने पर सोना, दूध के मथने पर नवनीत और लकड़ी के घर्षण करने पर अग्नि उत्पन्न होती है, इसी प्रकार शरीर अलग है और मैं अलग हूँ इस भेदविज्ञान के अभ्यास द्वारा आत्मा की उपलब्धि होती है। सातवें पद्य में प्रत्येक आत्मा को परमात्मा की शक्ति का धारी तथा समस्त शरीर

में आत्मा का अधिष्ठान बताया है । आठवें में बताया है कि यह आत्मा कभी धूप से निस्तेज नहीं होता, पानी से गलता नहीं, तलवार से कटता नहीं, इसमें भूख-प्यास आदि बाधाएँ भी नहीं है। यह बिल्कुल शुद्ध, शान्त, सुखस्वरूप, चैतन्य, ज्ञाता, द्रष्टा है।

नौवें पद्य में बताया है कि अनादिकालीन कर्म सन्तान के कारण इस आत्मा को यह शरीर प्राप्त हुआ है। शरीर में इन्द्रियाँ है, इन्द्रियों से विषय ग्रहण होता है, विषय ग्रहण से नवीन कर्म बन्धन होता है, इस प्रकार यह कर्म परम्परा चली आती है । इसका नाश आत्मा के पृथक्त्व चिन्तन द्वारा किया जा सकता है। दसवें पद्य में आत्मा और शरीर के सम्बन्ध का कथन करते हुए उन दोनों के भिन्नत्व को बताया है। ग्यारहवें पद्य में बताया है कि भोग और कषायों के कारण यह आत्मा विकृत और कर्मरूपी धूल को ग्रहण कर भारी होता जा रहा है । स्वभावतः यह शुद्ध, बुद्ध और निष्कलङ्क है, पर वैभाविक शक्ति के परिणमन के कारण योग-कषाय रूप प्रवृत्त होती है, जिससे द्रव्यकर्म और भाव कर्मों का सचय होता जाता है ।

बारहवें पद्य में भेदविज्ञान की दृष्टि को स्पष्ट किया है। तेरहवें पद्य मे शरीर, धन, कुटुम्ब आदि की क्षणभगुरता को बतलाते हुए इन पदार्थों से मोह को दूर करने पर जोर दिया है । चौदहवें पद्य में बताया है कि यह मनुष्य शरीर नाशवान है, इसे प्राप्त कर

आत्मकल्याण की ओर प्रवृत्त होना चाहिये। जो व्यक्ति आत्म-
कल्याण के लिये अवसर की तलाश में रहता है, उसे कभी भी
मौका नहीं मिलता, वह असमय में ही इस संसार को छोड़कर
चल देता है। अतः आत्मकल्याण जितनी जल्दी हो सके, करना
चाहिये। पन्द्रहवें पद्य में नाना जन्म-मरणों का कथन करते हुए
उनके सम्बन्धों की निस्सारता का कथन किया है। सोलहवें पद्य
में बताया है कि जिस व्यक्ति ने कभी दान नहीं दिया, जिसने
कभी तपस्या नहीं की, जिसने समाधिमरण नहीं किया उसके मरने
पर सम्बन्धियों को शोक करना उचित है, क्योंकि उसका जन्म
ऐसे ही बीत गया। आत्मकल्याण करनेवाले व्यक्ति का जीवन
सार्थक है, उसके मरने पर शोक नहीं करना चाहिये; क्योंकि ऐसा
व्यक्ति अपने कर्तव्य को पूरा कर गया है। सत्रहवें पद्य में मृत्यु
की अनिवार्यता का कथन करते हुए पुनर्जन्म पर जोर दिया है।

अठारहवें पद्य में देवपर्यायों के विभव और स्वरूप की
आलोचना की गयी है। उन्नीसवें में संसार के पदार्थों की
अवस्था में भिन्नता बताते हुए आत्म तत्त्व को प्राप्त करने के लिये
प्रेरित किया है। बीसवें पद्य में [illegible] की निस्सा-
रता [illegible] हुए [illegible]
है। [illegible] में बताया है कि [illegible], [illegible], [illegible], [illegible]
[illegible]

शरीर के ऊपर प्रेम रखकर शाश्वत आत्मस्वरूप को भूल गया है, जिससे यह अपने इस दुर्लभ नरभव को यों ही बिताना चाहता है। इन्द्रियों और मन को आधीन कर विषयों की प्रवृत्ति को रोकने में ही नरभव प्राप्ति की सार्थकता है। बाईसवें पद्य में आवागमन के चक्र का कथन करते हुए प्रभुभक्ति करने के लिये संकेत किया है। तेईसवें पद्य में बताया है कि यह जीव अनेक प्रकार के प्राणियों की कुक्षि से जन्म लेकर आया है। नाना प्रकार के आकार और वेष धारण किये है, शरीर के लिये नाना कार्य किये हैं। आहारादि करते करते अनेक जन्म बिता दिये हैं, तो भी इच्छा की पूर्ति नहीं हुई। अतएव भगवान् जिनेन्द्र की पूजा करना, उनके गुणों में तल्लीन होना कर्मबन्ध को छेदने का सुगम मार्ग है। चौबीसवें पद्य में इस शरीर की अशुद्धता का कथन करते हुए आत्मकल्याण के लिये जोर दिया है। पच्चीसवें में क्षणिक वैराग्य का दिग्दर्शन कराते हुए स्थायी वैराग्य प्राप्त करने के लिये संसार-स्वरूप का निरूपण किया है। छब्बीसवें पद्य में बताया है कि विपत्ति या सकट के आने पर हाय-हाय करना ठीक नहीं, इससे आगे के लिये अशुभ कर्मों का आस्रव ही होता है। अत: संकट के समय पचपरमेष्ठी के गुणों का चिन्तन करना चाहिये।

सत्ताईसवें में मृत्यु के समय मोह त्याग करने के लिये कहा

है। मरण-समय परिणामों में समता रहने से आत्मा का अधिक कल्याण हो सकता है। अतः समाधिमरण करना जीव का एक आवश्यक कर्त्तव्य है। अट्ठाईसवें और उन्तीसवें पद्य में सांसारिक नाते-रिश्तों के छीछालेदर को प्रकट करते हुए जन्म-मरण की सन्तति और उसके दुःखों को बतलाया है। तीसवें पद्य में बताया है कि आत्मा का कोई वंश, गोत्र और कुल नहीं है। यह वीज चौरासी लाख योनि में जन्मा है, तब इसका कौनसा वंश माना जाय ? इकत्तीस और बत्तीसवे पद्य में आत्मा को कुल, गोत्र आदि से भिन्न सिद्ध करते हुए विकारों को वश करने के लिये बताया है। तेतीसवे पद्य में आत्म-हितकारी चारित्र को ग्रहण करने के लिये जोर दिया है। चौत्तीसवें में आत्मा की अचिन्त्य शक्ति का कथन करते हुए उसे अजेय, बताया है। पैंत्ती-सवे में बताया है कि पाप जीव को नरक की ओर और पुण्य स्वर्ग की ओर ले जाता है। पाप और पुण्य दोनों मिलकर चतुर्गतियों में जीव को उत्पन्न करते है, पर यह सभी अनित्य है। छत्तीसवें पद्य से लेकर इकतालीसवें पद्य तक पुण्य और पाप के फलों का विवेचन किया है तथा पुण्यानुबन्धी पुण्य, पुण्यानुबन्धी पाप पापानुबन्धी पुण्य, पापानुबन्धी पाप, इन चारों का वर्णन किया है। पुण्य और पाप ये दोनों ही आत्मा के स्वरूप नहीं है, इनका आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं। आत्मा शुद्ध है, निष्कलंक

है, इसमें ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणों के सिवा और कुछ नहीं है।

छ्यानीसवें पद्य में दया धर्म की श्रेष्ठता बतायी गयी है। सैंतालीसवें में श्रावक को अपने धन को किन किन कार्यों में व्यय करना चाहिये तथा कौन-से कार्य उसके करणीय हैं, बताया है। अड़तालीसवें पद्य से लेकर पचासवें पद्य तक दान और प्रभुभक्ति का वर्णन किया है। संसार के दुःखों से संतप्त मानव को प्रभुचरणों में ही शान्ति मिल सकती है। यद्यपि प्रभुभक्ति रागस्वरूप है, फिर भी इसके द्वारा मानव शान्ति प्राप्त कर सकता है। शान्ति और सुख के भण्डार प्रभु की मूर्ति देखने से, उनके गुणों का स्मरण करने से आत्मा को शुद्ध करने की प्रेरणा मिलती है। अनादि कालीन कर्मों से बद्ध आत्मा अपनी मुक्ति की प्रेरणा प्रभुभक्ति से प्राप्त कर सकती है। इन पद्यों में इसी भक्ति का सुन्दर वर्णन किया है।

रत्नाकराधीश्वर शतक और अन्य आध्यात्मिक ग्रन्थ

रत्नाकराधीश्वर शतक में समयसार, प्रवचनसार, आत्मानुशासन और परमात्म-प्रकाश की छाया स्पष्ट मालूम होती है। कवि ने इन आध्यात्मिक ग्रन्थों के अध्ययन द्वारा अपने ज्ञान को समृद्ध-शाली बनाया है तथा अध्ययन से प्राप्त ज्ञान को अनुभव के साँचे

में ढाल कर यह नवीन रूप दिया है। इस ग्रन्थ में अनेक आध्यात्मिक ग्रन्थों का सार है। इसके अन्तस्तल में प्रवेश करने पर प्रतीत होता है कि कवि ने वेदान्त और उपनिषदों का अध्ययन भी किया है तथा अध्ययन से प्राप्त ज्ञान का उपयोग जैन मान्यताओं के अनुसार आठवें, नौवें और दसवें पद्य में किया है। अपराजित शतक में कई स्थानों पर वेदान्त का स्पष्ट वर्णन किया है। कवि की इस शतकत्रयी को देखने से प्रतीत होता है कि संसार, आत्मा और परमात्मा का अनुभव इसने अच्छी तरह किया है। इसके प्रत्येक पद्य में आत्मरस छलकता है, आत्मज्ञान पिपासुओं को इससे बड़ी शान्ति मिल सकती है। अकेले रत्नाकर शतक के अध्ययन से अनेक आध्यात्मिक ग्रन्थों का सार ज्ञात हो जाता है।

रत्नाकर शतक का अध्यात्मवाद निराशावाद नहीं है। संसार से घबड़ा कर उसे नश्वर या क्षणिक नहीं बताया गया है, बल्कि वस्तुस्थिति का प्रतिपादन करते हुए आत्मस्वरूप का विवेचन किया है। संसार के मनोज्ञ पदार्थों के अन्तरग और बहिरग रूप का साक्षात्कार कराते हुए उनकी बीभत्सता दिखलायी है। आत्मा, के लिये अपने स्वरूप से भिन्न शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, धान्य, पुरजन, परिजन सभी हेय हैं। ये संसार के पदार्थ बाहर से ही मोह के कारण सुन्दर दिखलायी पडते है, मोह के दूर होने पर इनका वास्तविक रूप सामने आता है, जिससे इनकी घृणित

अवस्था सामने आती है। अज्ञानी मोही जीव भ्रमवश ही मोह के कारण अपने साथ बन्धे हुए धन, सम्पत्ति, पुत्र कलत्रादि को अपना समझता है तथा यह जीव मिथ्यात्व, राग, द्वेष, क्रोध आदि विभावों के संयोग के कारण अपने को रागी, द्वेषी, क्रोधी, मानी, मायावी और लोभी समझता है, पर वास्तव में बात ऐसी नहीं है। ये सब जीव की विभाव पर्याय हैं, पर निमित्त से उत्पन्न हुयी हैं, अतः इनके साथ जीव का कोई सम्बन्ध नहीं। आत्मिक भेदविज्ञान, जिसके अनुभव द्वारा शरीर और आत्मा की भिन्नता अनुभूत की जा सकती है, कल्याण का कारण है। इस भेदविज्ञान की दृष्टि प्राप्त हो जाने पर आत्मा का साक्षात्कार इस शरीर में ही हो जाता है तथा भौतिक पदार्थों से आस्था हट जाती है। अतएव रत्नाकर शतक का अध्यात्म निराशावाद का पोषक नहीं, बल्कि कृत्रिम आशा और निराशाओं को दूर कर एक अद्भुत ज्योति प्रदान करनेवाला है।

रत्नाकराधीश्वर शतक की रचना शैली और भाषा

यह शतक मत्तेभविक्रीडित और शार्दूलविक्रीडित पद्यों में रचा गया है। इसकी रचना—शैली प्रसाद और माधुर्यगुण से ओत-प्रोत है। प्रत्येक पद्य में अंगूर के रस के समान मिठास वर्त्तमान है। शान्तरस का सुन्दर परिपाक हुआ है। कवि ने

आध्यात्मिक और नैतिक विचारों को लेकर फुटकर पद्य रचना की है। वस्तुतः यह गेय काव्य है, इसके पद्य स्वतन्त्र है, एक का सम्बन्ध दूसरे से नहीं है। संगीत की लय में आध्यात्मिक विचारों को नवीन ढग से रखने का यह एक विचित्र क्रम है।

कवि ने रत्नाकराधीश्वर---जिनेन्द्र भगवान् को सम्बोधन कर संसार, स्वार्थ, मोह, माया, क्रोध, लोभ, मान, ईर्ष्या, घृणा, आदि के कारण होनेवाली जीव की दुर्दशा का वर्णन करते हुए आत्मतत्त्व की श्रेष्ठता बतायी है। अनादिकालीन राग-द्वेषों के आधीन हो यह जीव उत्तरोत्तर कर्मार्जन करता रहता है। जब इसे रत्नत्रय की उपलब्धि होजाती है, तो यह इस गम्भीर संसार समुद्र को पार कर जाता है। कवि के कहने का ढग बहुत ही सीधा-सादा है। यद्यपि पद्यार्थ गूढ़ है, शब्दविन्यास इस प्रकार का है जिससे गम्भीर अर्थ बोध होता है, पर फिर भी अध्यात्म विषय के प्रतिपादन की प्रक्रिया सरल है। एक श्लोक में जितना भाव कवि को रखना अभीष्ट था, सरलता से रख दिया है। कविवर रत्नाकर ने इस बात का पूरा ध्यान रखा है कि मानव की व्याकरणात्मक चित्तवृत्ति रसदशा की उस भाव भूमि में पहुंचने में अव्याहत न हो, जिसमें आत्मा को परम तृप्ति मिलती है। कवि ने इसके लिये रत्नाकराधीश्वर सम्बोधन का मधुर आकर्षण रखकर पाठक या श्रोताओं को रसास्वादन कराने में पूरी तत्परता दिखलायी है। कवि की यह शैली

भर्तृहरि आदि शतक निर्माताओं की शैली मे भिन्न है। इसमें भगवान् की स्तुति करते हुए आत्मतत्त्व का निरूपण किया है।

जिस प्रकार शारीरिक बल के लिये व्यायाम की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार आत्मिक शक्ति के विकास के लिये भावों का व्यायाम अपेक्षित है। शान्तरस के परिपाक के लिये तो भावनाओं की उत्पत्ति, उनका चैतन्यश, उनकी विकृति एव स्वाभाविक रूप में परिणति की प्रक्रिया विशेष आवश्यक है, इनके विश्लेषण के बिना शान्तरस का परिपाक हो ही नहीं सकता है। मुक्तक पद्यों में पूर्वापर सम्बन्ध का निर्वाह अन्विति रक्षामात्र के लिये ही होता है। कवि रत्नाकर ने अपनी भावधारा को एक स्वाभाविक तथा निश्चित क्रम से प्रवाहित कर अन्विति की रक्षा पूर्ण रीति से की है। अतः मुक्तकपद्यों में धुंधली आत्म-भावना के दर्शन न हो कर ज्ञाता, द्रष्टा, शाश्वत, निष्कलक, शुद्ध, बुद्ध आत्मा का साक्षात्कार होता है। कवि के काव्य का केन्द्रबिन्दु चिरन्तन, अनुपम एव अक्षय सुख-प्राप्ति ही है, यह रत्नत्रय की उपलब्धि होने पर आत्मस्वरूप में परिणत हो वृत्ताकार बन जाता है।

इस शतक की भाषा सम्कृत मिश्रित पुरातन कन्न्ड़ है। इसमें कुछ शब्द अपभ्र श और प्राकृत के भी मिश्रित है। कवि ने इन शब्द रूपों को कन्नड़ की विभक्तियों को जोडकर अपने अनुकूल ही बना लिया है। ध्वनि परिवर्तन के नियमों का कवि ने सस्कृत से

कन्नड़ शब्द बनाने में पूरा उपयोग किया है। कृदन्त और तद्धित प्रत्यय प्रायः संस्कृत के ही ग्रहण किये हैं। इस प्रकार भाषा को परिमार्जित कर अपनी नई सूझ का परिचय दिया है।

रत्नाकर शतक का रचयिता कवि रत्नाकर वर्णी

ईस्वी सन् १६ वीं शताब्दी के कर्णाटकीय जैन कवियों में कविवर रत्नाकर वर्णी का अग्रगण्य स्थान है। यह आशु कवि थे। इनकी अप्रतिम प्रतिभा की ख्याति उस समय सर्वत्र थी। इनका जन्म तुलुदेश के मूडबिद्री ग्राम में हुआ था। यह सूर्यवंशी राजा देवराज के पुत्र थे। इनके अन्य नाम अरण्ण, वर्णी, सिद्ध आदि भी थे। बाल्यावस्था में ही काव्य, छन्द और अलंकार शास्त्र का अध्ययन किया था। इनके अतिरिक्त गोम्मटसार की केशव वर्णी की टीका, कुन्दकुन्दाचार्य के अध्यात्मग्रन्थ, अमृतचन्द्र सूरि कृत समयसार नाटक, पद्मनन्दि कृत स्वरूप-सम्बोधन, इष्टोपदेश, अध्यात्म नाटक आदि ग्रन्थों का अध्ययन और मनन कर अपने ज्ञान भाण्डार को समृद्धशाली किया था। देवचन्द्र की राजावली कथा में इस कवि के जीवन के सम्बन्ध में निम्न प्रकार लिखा है—

यह कवि भैरव राजा का सभापण्डित था। इसकी ख्याति और काव्य चातुर्य को देखकर इस राजा की लड़की मोहित हो गयी। इस लड़की से मिलने के लिये इसने योगाभ्यास कर दस वायुओं का साधन किया। वायु धारणा को सिद्ध कर यह योग

क्रिया द्वारा रात को महल में भीतर पहुंच जाता था और प्रतिदिन उस राजकुमारी के साथ क्रीड़ा करता था। कुछ दिनों तक उसका यह गुप्त कार्य चलता रहा। एक दिन इस गुप्त काण्ड का समाचार राजा को मिला। राजा ने समाचार पाते ही रत्नाकर कवि को पकड़ने की आज्ञा दी।

कवि रत्नाकर को जब राजाज्ञा का समाचार मिला तो वह अपने गुरु देवेन्द्रकीर्ति के पास पहुंचा और उनसे अणुव्रतदीक्षा ली। कवि ने व्रत, उपवास और तपश्चर्या की ओर अपने ध्यान को लगाया। आगम का अध्ययन भी किया तथा उत्तरोत्तर आत्म-चिन्तन में अपने समय को व्यतीत करने लगा।

विजयकीर्ति नाम के पट्टाचार्य के शिष्य विजयरण्ण ने द्वादशानुप्रेक्षा की कन्नड़ भाषा में संगीत मय रचना की थी। यह रचना अत्यन्त कर्णप्रिय स्वर और ताल के आधार पर की गयी थी। गुरु की आज्ञा से इस रचना को हाथी पर सवार कर गाजे बाजे के साथ जुलुस निकाला गया था। इस कार्य से जिनागम की कीर्ति तो सर्वत्र फैली ही, पर विजयरण्ण की कीर्ति गन्ध भी चारों ओर फैल गयी। रत्नाकर कवि ने भरतेश वैभव को रचना की थी, उसका यह काव्य ग्रन्थ भी अत्यन्त सरस और मधुर था। अतः उसको इच्छा भी इसका जुलुस निकालने की हुयी। उसने पट्टाचार्य से इसका जुलुस निकालने की स्वीकृति माँगी। पट्टाचार्य

ने कहा कि इसमें दो-तीन पद्य आगम विरुद्ध है, अतः इसका जुलूस नही निकाला जा सकता है। रत्नाकर कवि ने इस बात पर बिगड़कर पट्टाचार्य से वादविवाद किया।

पट्टाचार्य ने रत्नाकर कवि से चिढ़कर श्रावकों के यहाँ उसका आहार बद करवा दिया। कुछ दिन तक कवि अपनी बहन के यहाँ आहार लेता रहा। अन्त में उसकी जैनधर्म से रुचि हट गयी, फलतः उसने शैव धर्म को ग्रहण कर लिया। इस धर्म की निशानी शिवलिंग को गले में धारण कर लिया। सोलहवीं शताब्दी में दक्षिण भारत में शैवधर्म का बडा भारी प्रचार था, अतः कवि का विचलित होकर शैव हो जाना स्वभाविक था।

कवि ने थोड़े ही समय में शैवधर्म के ग्रन्थों का अध्ययन कर लिया और वसवपुराण की रचना की। सोमेश्वर शतक भी महादेव की स्तुति करते हुए लिखा है। जीवन के अन्त में कर्मों का क्षयोपशयम होने से उसने पुनः जैनधर्म धारण किया।

रत्नाकर कवि के सम्बन्ध में किम्वदन्ती

रत्नाकर अल्पवय में ही ससार से विरक्त हो गये थे। इन्होंने चारुकीर्त्ति योगी से दीक्षा ली थी। दिनरात तपस्या और योगाभ्यास में अपना समय व्यतीत करते थे। इनकी प्रतिभा अद्भुत थी, शास्त्रीयज्ञान भी निराला था। थोडे ही दिनों में रत्नाकर की प्रसिद्धि सर्वत्र हो गयी। अनेक शिष्य उनके उपदेशों

में शामिल होने लगे। रत्नाकर प्रतिदिन प्रातःकाल अपने शिष्यों को उपदेश देते थे। शिष्य दो घड़ी रात शेष रहते ही इनके पास एकत्रित होने लगते थे। कवि-प्रतिभा इन्हें जन्म जात थी, जिससे राजा-महाराजाओं तक इनकी कीर्त्ति कौमुदी पहुँच गयी थी।

इनकी दिगदिगन्त व्यापिनी कीर्त्ति को देखकर एक कुकवि के मन में ईर्ष्या उत्पन्न हुई और उसने इनकी प्रसिद्धि में कलक लगाने का उपाय सोचा। एक दिन उसने दो घड़ी रात शेष रहने पर चौकी के नीचे वेश्या को गुप्तरीति से लाकर छिपा दिया। और स्वय छद्मवेष में अन्य शिष्यों के साथ उपदेश सुनने के लिये आया। उपदेश में उसी धूर्त ने 'यह क्या है' ? कहकर चौकी के नीचे से वेश्या को निकालकर रत्नाकर कवि का अपमान किया। फलत. कविको अपना स्थान छोड़कर अन्यत्र जाना पडा। यद्यपि अनेक लोगों ने उनसे वहीं रहने की प्रार्थना की, पर उसने किसीकी वात नहीं सुनी।

कुछ दूर चलने पर कवि को एक नदी मिली। इसने इस नदी में यह कहते हुए डुबकी लगायी कि मुझे जैन धर्म की आवश्यकता नहीं है, मै आज इसे जलाञ्जलि देता हूँ। कवि स्नान आदि से निवृत्त होकर आगे चला। उसे रास्ते में हाथी पर एक शैवग्रन्थ का जुलूस गाजे-बाजे के साथ आता हुआ

मिला। कवि ने इस ग्रन्थ को देखने को मॉगा और देखकर कहा इसमें कुछ सार नहीं है। लोगों ने यह समाचार राजा को दिया, राजा से उन्होंने कहा कि एक कवि ने सार रहित कहकर इस ग्रन्थ का अपमान किया है। राजा ने चर भेजकर रत्नाकर कवि को अपनी राजसभा में बुलाया और उससे पूछा कि इसमें सार क्यों नहीं है? तुमने इस महाकाव्य का तिरस्कार क्यों किया? हमारी सभा के सभी पडितों ने इसे सर्वोत्तम महाकाव्य बताया है, फिर आप क्यों अपमान कर रहे है? आपका कौनसा रसमय महाकाव्य है?

रत्नाकर कवि—महाराज! नौ महीने का समय दीजिये तो मै आपको रस क्या है? यह बतलाऊँ। राजा से इस प्रकार समय मॉग कर कवि ने नौ महीने में भरतेशवैभव ग्रन्थ की रचना की और सभा में उसको राजा को सुनाया। इसे सुनकर सभी लोग प्रसन्न हुए, राजा कवि की अप्रतिम प्रतिभा और दिव्य सामर्थ्य को देखकर बहुत प्रसन्न हुआ और कवि से शैव धर्म को स्वीकार करने का अनुरोध किया। कवि ने जैनधर्म छोड़ने का निश्चय पहले ही कर लिया था, अतः राजाके आग्रह से उसने शैवधर्म ग्रहण कर लिया।

मरणकाल निकट आने पर कवि ने पुनः जैनधर्म ग्रहण कर लिया। उसने स्पष्ट कहा कि मै यद्यपि ऊपर से शिवलिग धारण

किये हैं पर अन्तरंग में मैं सदा से जैन हूँ। अत: मरने पर मेरा अन्तिम संस्कार जैनाम्नाय के अनुसार किया जाय।

उपर्युक्त दोनों कथाओं का समन्वय करने पर प्रतीत होता है कि कवि जन्म से जैनधर्मानुयायी था। बीच में किसी कारण से शैवधर्म को उसने ग्रहण कर लिया था, पर अन्त में वह पुन: जैनी बन गया था।

कवि का समय और गुरु परम्परा

इस कवि ने अपने त्रिलोकशतक में "मणिशैलगतिइन्दुशालीशतक" का उल्लेख किया है, जिससे ज्ञात होता है कि शालिवाहन शक १४७९ (ई० १५५७) में शतकत्रय की रचना की है। भरतेशवैभव में एक स्थान पर उसका रचनाकाल शक स० १५८२ (ई० १६६०) बताया है। पर यह समय ठीक नहीं जँचता है। पहली बात तो यह है कि त्रिलोकशतक और भरतेश वैभव के समय में १०३ वर्ष का अन्तर है, अतः एक ही कवि १०३ वर्ष तक कविता कैसे करता रहा होगा। ——ये दोनों ग्रन्थों में से किसी एक ग्रन्थ के समय को प्रमाण मानना चाहिये अथवा दोनों के रचयिता दो भिन्न कवि होने चाहिये।

रचनाशैली आदि की दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि भरतेशवैभव में लगभग ५० पद्य प्रक्षिप्त हैं, जिन्हें लोगोंने

भ्रमवश रत्नाकर कवि का समझ लिया है। उपर्युक्त समय भी प्रक्षिप्त पद्यो में ही आया है, अत: यह प्रक्षिप्त पद्यों का रचना समय है, भरतेश वैभव का नहीं। त्रिलोक शतक तथा सोमेश्वर शतक में दिये गये समय के आधार पर यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि इस कवि का समय ईस्वी सन् की सोलहवीं शताब्दी का मध्य है।

इस कवि के दो गुरु प्रतीत होते है। एक देवेन्द्रकीर्त्ति और दूसरे चारुकीर्त्ति। इस कवि की विरुदावलि में शृंगार कवि राजहंस ऐसा उल्लेख आता है, जिससे कुछ लोगों का अनुमान है कि शृंगार कवि राजहंस यह कोई स्वतन्त्र कवि है, इसका गुरु देवेन्द्रकीर्त्ति था तथा रत्नाकर का गुरु चारुकीर्त्ति था। पर विचार करने पर यह ठीक नहीं जंचता, शृंगार कवि राजहंस यह विरुदावली कवि रत्नाकर की ही है। क्योंकि भरतेश वैभव शृंगार रस की खान है, अतः 'शृगार कवि राजहस' यह उपाधि कवि को मिली होगी। राजावली कथा के अनुसार देवेन्द्रकीर्त्ति और महेन्द्रकीर्त्ति एक ही व्यक्ति के नाम है। रत्नाकरशतक में कवि ने अपने गुरु का नाम महेन्द्रकीर्त्ति कहा है। देवेन्द्रकीर्त्ति नाम की पट्टावली हुम्बुच्च के भट्टारकों की है और चारुकीर्त्ति पट्टावली मूडबिद्री के भट्टारकों की थीं। कवि ने प्रारम्भ में चारुकीर्त्ति भट्टारक से दीक्षा ली होगी। मध्य में शैव हो जाने पर वह

कुछ दिन इधर-उधर रहा होगा। पश्चात् पुनः जैन होने पर हुम्बुच्च गद्दी के स्वामी महेन्द्रकीर्त्ति या देवेन्द्रकीर्त्ति से उसने दीक्षा ली होगी। जैनधर्म से विरत होकर शैवदीक्षा लेने पर इसने सोमेश्वर शतक की रचना की है। इस शतक में समस्त सिद्धान्त जैनधर्म के है, केवल अन्त में 'हरहरा सोमेश्वरा' जोड दिया है। नमूने के लिये देखिये—

> वर सम्यत्त्वसुधर्मजैनमतदोळतां पुट्टियादीक्षेयं।
> धरिसीसन्नुतकाव्यशास्त्रगळनु निर्माणम माडुतं॥
> वररत्नाकर योगियेंदु निरुत वैराग्य वंदेरला।
> हरदीक्षाव्रतनादेनै हरहरा श्रीचेन्न सोमेश्वरा॥

इससे स्पष्ट है कि कवि ने अपने जीवन में एक बार शैव दीक्षा ली थी, पर जैनधर्म का महत्व उसके हृदय में बना रहा था, इसी कारण अन्त समय में उसे पुन. जैन बनने में विलम्ब नहीं हुआ।

प्रस्तुत सम्पादन

इस ग्रन्थ का सम्पादन श्री शान्तिराज शास्त्री द्वारा सम्पादित रत्नाकर शतक के आधार पर किया गया है। इसकी हस्तलिखित दो-तीन प्रतियाँ भी हमारे सामने रही है। इसके आध्यात्मिक विचारों ने हमें आकृष्ट किया, जिससे इसका हिन्दी अनुवाद और विस्तृत विवेचन लिखने का हमारा विचार हुआ। आरा में श्रीजैन-

सिद्धान्त-भवन के विशाल संग्रह ने हमारे इस विचार को प्रोत्साहन दिया, जिससे इस चातुर्मास में हमने इसका अनुवाद कर दिया। समग्र ग्रन्थ एक साथ नहीं छप सका; क्योंकि पृष्ठ संख्या इतनी अधिक हो जायगी जिससे पाठकों को असुविधा होगी। अतः इसे चार भागों में प्रकाशित किया जा रहा है। इसके विवेचन में संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी के उपलब्ध जैन वाङ्मय का उपयोग किया गया है। इने स्वाध्याय योग्य बनाने में शक्तिभर प्रयत्न किया है।

आभार और आशीर्वाद

जिन पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों का सारांश लेकर विवेचन लिखा गया है, उन सबका मैं हृदय से आभारी हूं। श्री जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा का भी आभारी हूॅं क्योंकि इस भण्डार के ग्रन्थ रत्नों से मुझे ज्ञानवर्द्धन में पर्याप्त सहायता मिली है। मै इस ग्रन्थ के सहसम्पादक प० नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य, बालाविश्राम की संचालिका श्रीमती ब्र० पं० चन्दाबाईजी, सरस्वती प्रेस के सचालक श्री देवेन्द्रकिशोरजी, श्रीमती चम्पामणि धर्मपत्नी स्व० बा० भानु-कुमारजी जैन एव समस्त दि० जैन समाज आरा को आशीर्वाद देता हॅूं, जिनके सहयोग से यह ग्रन्थ पूर्ण किया गया है।

पौष कृष्णा १३
 वी० सं० २४७६

शुभाशीर्वाद—
मुनि संघ, आरा।

विषय-सूची

श्री राग सिरि-गपुमाले मणिहार वस्त्रमंगक्कलं-
कारं हेयमिवात्मतत्वरुचिवोधोद्यच्चरित्रंगळी ॥
त्रैरत्नं मनसिगे सिंगरमुपादेयगळेंदित्ते शृं-
गार श्रीकविहंसराजनोडेया रत्नाकराधीश्वरा ॥१॥

हे रत्नाकराधीश्वर ❀ !

सुगन्ध युक्त लेपन द्रव्य, परिमल युक्त पुष्पों की माला, वहुमूल्य रत्नों का हार तथा नाना प्रकार के वस्त्राभूषण केवल शरीर के अलंकार हैं, इसलिये वे सर्वथा त्याज्य हैं। आत्म स्वरूप के प्रति श्रद्धा, उत्कृष्ट ज्ञान और चारित्र ये तीन रत आत्मा के अलंकार हैं। इसलिये ये तीनों रत्न स्वीकार के योग्य हैं और ऐसा समझ कर ही आपने मुझे इन रत्नों को दिया है।

विवेचन--- मोह के उदय से यह जीव भोग-विलास से प्रेम करता है, संसार के पदार्थ इसे प्रिये लगते है। नाना प्रकार के सुन्दर वस्त्राभूषण, अलंकार, पुष्पमाला आदि से यह अपने को सजाता है, शरीर को सुन्दर बनाने की चेष्टा करता है, तैलमर्दन, उबटन, साबुन आदि सुगन्धित पदार्थों द्वारा शरीर को स्वच्छ करता है, वस्तुतः ये क्रियाएँ मिथ्या है। यह शरीर इतना अपवित्र है कि

❀ इस ग्रन्थ मे प्रत्येक पद्य के अन्त में "रत्नाकराधीश्वर" पद आया है जिसके तीन अर्थ हो सकते हैं—(१) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र जैसे रत्नो के स्वामी, (२) समुद्राधिपति और (३) रत्नाकर स्वामी—जिनेन्द्र प्रभु।

इसमें स्वच्छता किसीभी बाह्य साधन से नहीं आ सकती। केशर, चन्दन, पुष्प, सुगन्धित मालाएँ शरीर के स्पर्शमात्र से अपवित्र हो जाती[1] हैं। अतः यह शरीर सुन्दर वस्त्राभूषण धारण करने से अलंकृत नहीं हो सकता। वास्तव में शरीर की शोभा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र के धारण करने से ही हो सकती[2] है। क्योंकि अनित्य पदार्थों के द्वारा इस अनित्य शरीर को अलंकृत नहीं किया जा सकता। यह प्रयास इस प्रकार व्यर्थ माना जायगा जैसे कि कीचड लगे पाँव को पुनः पुनः कीचड से धोना। अतः इस मलवाही अनित्य शरीर को प्राप्त कर आत्मकल्याण के साधनी-भूत रत्नत्रय को धारण करना प्रत्येक जीव का कर्त्तव्य है। जो साधक सांसारिक विषय-कषायों का त्याग करना चाहता है, उसे भौतिक ऐश्वर्य, यौवन, शरीर आदि के वास्तविक स्वरूप का विचार करना आवश्यक है। इनका यथार्थ विचार करने पर

१—केशरचन्द पुष्प सुगन्धित वस्तु देख सारी।
देह परस तैं होय अपावन निस-दिन मलजारी॥

२—काना पौंडा पड़ा हाथ यह चूसै तो रोवै।
फलै अनन्त जु धर्मध्यान की भूमि विषै बोवै॥
—भगतराय—द्वादश भावना

मोक्ष आत्मा सुख नित्यः शुभः शरणमन्यथा।
भवोऽस्मिन् वसतो मेऽन्यत् किं स्यादित्यापदि स्मरेत्॥
—सागार ध० ५, ३०

विषय-कषायो की निस्सारता प्रत्यक्ष हो जाती है, उनका खोखलापन सामने आ जाता है और जीव के परिणामों में विरक्ति आ जाती है। जब तक संसार के पदार्थों से विरक्ति नहीं होती, तब तक उनका त्याग सभव नहीं। भावावेश में आकर कोई व्यक्ति क्षणिक त्याग भले ही कर दे पर स्थायी त्याग नहीं हो सकता है।

अज्ञानी प्राणी ससार के मनमोहक रूप को देखकर मुग्ध हो जाता है, उसके यथार्थ रूप को नहीं समझता है, इससे अपने इस मानव जीवन को व्यर्थ खो देता है। यह मनुष्य पर्याय बडी कठिनता से प्राप्त हुई है, इसका उपयोग आत्म कल्याण के लिये अवश्य करना चाहिये। कविवर बनारसीदास ने अपने नाटक समय सार के निम्नपद्य में विषय-भोगों में अपने जीवन को लगाने-वाले व्यक्तियों की अज्ञता का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है—

ज्यों मतिहीन विवेक बिना नर, साजि मतङ्ग जो ईंधन ढोवै।
कंचन-भाजन धूरि भरै शठ, मूढ़ सुधारस सों पग धोवै॥
वे-हित काग उड़ावन कारन, डारि उदधि मनि मूरख रोवै।
त्यों नर-देह दुर्लभ्य बनारसि, पाय अजान अकारथ खोवै।

जो व्यक्ति आत्मकल्याण के लिये समय की प्रतीक्षा करता रहता है, उसे कभी भी अवसर नहीं मिलता। उसके सारे मनसूबों को मृत्यु समाप्त कर देती है, और वह कल्पता हुआ ससार से चल

बसता है। संसारी जीव का चिन्तन सदा सांसारिक पदार्थों के संचय के लिये हुआ करता है, पर यमराज उसे बीच में ही दबोच देता है।

अतः संसार में से मोह को कम करना तथा सदा यह चिन्तवन करना कि ये संसार के सभी पदार्थ जिनको बड़े यत्न और कष्ट से संचित किया है, यहीं रहने वाले[1] है। ये एक कदम भी हमारे साथ नही जायँगे, रत्नत्रय प्राप्ति का साधन है। लक्ष्मी, यौवन, स्त्री, पुत्र, पुरजन, परिजन, सभी क्षण भंगुर है; विनाशीक है। मरने पर हमारे साथ पुण्य-पाप के अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं जा सकती है, सभी भौतिक पदार्थ यहीं रह जायँगे, सोचना आत्मिक ज्ञान प्राप्ति मे सहायक है। जीव क्षणिक ऐश्वर्य प्राप्त कर अभिमान में आकर दूसरों की अवहेलना करता है, अपमान करता है तथा अपने को ही सर्वगुणसम्पन्न समझता है, पर उसे यह पता नहीं कि एक दिन उसका अभिमान चूर-चूर हो जायगा। वह खाली हाथ आया है और खाली हाथ जायगा, अपने साथ

१—जल बुब्बयसारित्थं धणजुव्वणं जीवियपि पेच्छंता।
मरणंति तो वि णिच्चं अइबलिओ मोहमाहप्पो ॥
—स्वा० का० अ० गा० २१

अर्थ—यह मोही प्राणी पानी के बुलबुले के समान क्षणविध्वंशी धन, यौवन, ऐश्वर्य आदि को नित्य मानता है, महान् आश्चर्य है।

एक चिथडा भी नहीं ले जा सकता है। अतएव आत्मकल्याण के कारण रत्नत्रय को धारण करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है।

कवि ने इस पद्य में मंगलाचरण भी प्रकारान्तर से कर दिया है। उसने अन्तरग, बहिरंग लक्ष्मी के स्वामी, रत्नत्रय के धारी, तीर्थंकर भगवान् को नमस्कार कर रत्नाकर शतक को बनाने का संकल्प किया है। इस रत्नाकर शतक में ससार में होनेवाले दुःखों से छुटकारा प्राप्त करने के साधन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का वर्णन किया जायगा, जिससे यह प्राणी अपना कल्याण भली प्रकार कर सकेगा।

> तत्व प्रीति मणक्के पुट्टलदुसम्यग्दर्शनंमत्तमा,
> तत्वार्थंगळनोळ्दु भेदिपुदुसम्यग्ज्ञामा वोधदिं।
> सत्वंगळ्किडदतुटोवि नडेयल्सम्यक्चारित्रं सुर—
> त्नत्वमूरिवु मुक्तिगेद रुपिदै ! रत्नाकराधीश्वरा ॥२॥

हे रत्नाकराधीश्वरा !

जीवादि तत्त्वो के प्रति मन मे श्रद्धा का उत्पन्न होना सम्यग्दर्शन, उन तत्त्वों को प्रेम पूर्वक पृथक् पृथक् जानना सम्यग्ज्ञान और उस ज्ञान से प्राणीमात्र की रक्षा करना सम्यक् चारित्र कहलाता है। आपने ऐसा समझाया है। जिस प्रकार रत्न का स्वामी किसी को रत्न देकर उस रत्न के स्वरूप का वर्णन कर देता है उसी प्रकार स्वीकार करने योग्य इस रत्नत्रय के आप अधिपति हैं; इन्हे देकर आपने इनके स्वरूप का वर्णन कर दिया है ॥२॥

विवेचन—जिस प्रकार रोग की अवस्था और उसके निदान के मालूम होजाने पर रोगी रोग से निवृत्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार साधक संसार रूपी रोग का निदान और उसकी अवस्था को जान कर उससे छूटने का प्रयत्न कर सकता है। संसार के दुःखों का मूल कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र है।

आत्मा के अस्तित्व में दृढ़ विश्वास न कर अतत्वरूप श्रद्धा करना मिथ्यादर्शन है। इसके प्रभाव से जीव को स्वपर का विवेक नहीं रहता है, यह जीव जड़ शरीर को ही आत्मा समझ लेता है तथा स्त्री, पुत्र, धन, धान्य में मोह के कारण लिप्त हो जाता है, उन्हे अपना समझ कर उनके सद्भाव और अभाव में हर्षविषाद उत्पन्न करता है।

मिथ्यादर्शन के निमित्त से यथार्थ वस्तु-स्वरूप का ज्ञान न होना मिथ्याज्ञान है। कषाय और असयम के कारण संसार में भ्रमण करनेवाला आचरण करना मिथ्याचारित्र है। मोह के कारण विषय ग्रहण करने की इच्छा होती है। इच्छाएँ अनन्त हैं, इनकी तृप्ति न होने से जीव को दुःख होता है। मिथ्यात्व के कारण यह जीव इच्छा तृप्ति को ही सुख समझता है, पर वास्तव में इच्छाएँ कभी तृप्त नहीं होती है। एक इच्छा तृप्त होती है,

दूसरी उत्पन्न हो जाती है, दूसरी के तृप्त होने पर तीसरी उत्पन्न हो जाती है, इस प्रकार मोह के निमित्त से पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी विषय ग्रहण की इच्छाएँ निरन्तर उत्पन्न होती रहती है; इससे इस जीव को व्याकुलता सदा बनी रहती है। भोग द्वारा इच्छाओं को तृप्त करने का प्रयत्न करना बडी भारी भूल है। भोग करने पर इच्छाएँ कभी भी शान्त नहीं हो सकती है।

चारित्र मोह के उदय से क्रोधादि कषाय रूप अथवा हास्यादि नोकषाय रूप जीव के भाव होते है, जिससे यह कुकार्यों में प्रवृत्ति करता है। क्रोध के उत्पन्न होने पर अपनी तथा पर की शान्ति भग करता है, मान के उत्पन्न होने पर अपने तथा पर को नीच समझता है, माया के उत्पन्न होने से अपने तथा पर को धोखा देता है और लोभ के उत्पन्न होने से अपने तथा पर को लुब्धक बनाता है। इस प्रकार कषायों के निमित्त से यह जीव निरन्तर दु:ख उठाता है, और इस दु:ख को सुख समझता है।

जब समस्त दुखों के मूल मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के दूर होने पर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की प्राप्ति होती है तभी मानव शान्ति प्राप्त कर सकता है। इसलिये रत्नाकर कवि ने ससार के उक्त दु:ख को दूर करने के लिये रत्नत्रय धारण करने का उपदेश दिया है। क्योंकि रत्नत्रय ही

आत्मा का वास्तविक स्वरूप है, यह आत्मा से भिन्न नहीं है। क्रोधादि कषायें, वासनाएँ तथा अन्य विकार आत्मा के स्वरूप नहीं है; क्योंकि ये सब परिवर्तन शील है। जो आत्मा का स्वभाव होता है, वह सदा विद्यमान रहता है अथवा किसी न किसी अंश में अवश्य पाया जाता है। अतः विकार आदि आत्मा के स्वभाव नहीं, किन्तु विभाव है। इन विभावों के यथार्थ रूप को समझ कर वैसा श्रद्धान करना तथा आत्मस्वरूप का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

मनोविज्ञान बतलाता है कि मानव की अनन्त शक्तियों में श्रद्धा या संकल्प की शक्ति प्रधान है। जब तक विश्वास या संकल्प किसी कार्य का नही होता तब तक उसमें सफलता नही मिल सकती है। क्योंकि संकल्प या श्रद्धा के दृढ होने पर ही मनुष्य काम, क्रोध आदि कुभावनाओं से बच सकता है। कोई भी लौकिक या पारलौकिक कार्य श्रद्धा या विश्वास के बिना सम्पन्न नहीं हो सकता। आत्मकल्याण के लिये सहायक सम्यक्श्र द्धा या सम्यक् विश्वास है, कवि ने इसीका नाम सम्यग्दर्शन कहा है। यह आत्मा स्वभावसे ज्ञाता, द्रष्टा, आनन्दमय एवं अनन्त शक्तियों से युक्त है, इसका इसी रूप में विश्वास करना सम्यग्दर्शन है।

आगम में सम्यग्दर्शन के व्यवहार और निश्चय ये दो भेद बताये है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों का विपरीताभिनिवेश रहित और प्रमाण-नयादि के विचार सहित श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है[१]। इन सात तत्त्वों का उपदेश करनेवाले सच्चे देव, सच्चे शास्त्र एवं सच्चे गुरु का तीन मूढ़ता और आठ मद से रहित श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है[२]। इसके तीन भेद है—उपशमसम्यक्त्व, क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व।

उपशमसम्यक्त्व[३]—मिथ्यादृष्टि जीव के दर्शन मोहनीय कर्म की एक या तीन; अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन पाँच या सात प्रकृतियों के उपशम से जो तत्त्व श्रद्धान उत्पन्न होता है उसे उपशम सम्यक्त्व कहते हैं। सीधे साधे शब्दों में यों कहा जा

१—जीवाजीवादीना तत्त्वार्थाना सदैव कर्त्तव्यम्। श्रद्धान विपरीता-भिनिवेश विविक्तमात्मरूप तत्॥ —पु० सि० श्लो० २२

२—श्रद्धान परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्। त्रिमूढापोढमष्टांग सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥ —र० श्रा० श्लो० ४

३—अनन्तानुबंधिन कषाया क्रोधमानमायालोभाश्चत्वारः चारित्र-मोहस्य मिथ्यात्व-सम्यङ्मिथ्यात्व—सम्यक्त्वानि त्रीणि दर्शनमोहस्य। आसां सप्तानां प्रकृतिनामुपशमादौपशमिकं सम्यक्त्वमिति।

तत्त्वार्थ रा० २-३

सकता है कि कषाय और विकारों के दबा देने पर जो आत्मा में निर्मलता या विमल रुचि उत्पन्न होती है, वह उपशम सम्यक्त्व है। यहाँ यह स्मरण रखने योग्य है कि विकार दबा देने से अधिक समय तक या चिर काल तक दबे नही रहते; कालान्तर में पुनः उद्‌बुद्ध हो जाते है, जिससे आत्मा की निर्मलता मलिनता के रूप में बदल जाती है।

*क्षायिकसम्यक्त्व*१—अनन्तानुबन्धी की चार और दर्शन मोहनीय की मिथ्यात्व, सम्यङ्‌मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व इन सात प्रकृतियों के सर्वथा विनाश से जो निर्मल तत्त्व प्रतीति होती है, उसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते है। अभिप्राय यह कि प्रमुख विकारों के दूर करने पर जो निर्मल आत्मा की रुचि होती है, उसे क्षायिक सम्यग्दर्शन कहा गया है। यह सम्यग्दर्शन या आत्म-विश्वास प्रमुख विकारों के नाश से उत्पन्न होता है, इसलिये आत्म-साधन का बडा भारी कारण है। इसके उत्पन्न होते ही प्राणी कंचन और कामिनी की रुचि से दूर हट जाता है।

१—तत्रकषायवेदनीयस्य भेदा अनन्तानुबन्धिनः क्रोधमानमाया-लोभाश्चत्वारः दर्शनमोहस्य त्रयो भेदाः सम्यक्त्व, सम्यङ्‌मिथ्यात्वमिति, आसां सप्तानां प्रकृतिनां अत्यन्तक्षयात्क्षायिक सम्यक्त्वम्।

—स० सि० पृ० ९१

क्षायोपशमिक[1] *सम्यक्त्व*—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व इन छः प्रकृतियों में किन्हीं के उपशम और किन्हीं के क्षय से तथा सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से जो आत्मरुचि उत्पन्न होती है उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।

आत्मा को शुद्ध चैतन्य स्वरूप, ज्ञाता, द्रष्टा समझना तथा अपने को समस्त ससार के पदार्थों से भिन्न समझ कर वैसा श्रद्धान करना निश्चय सम्यग्दर्शन है[2]। ससार के पदार्थ आत्मा से भिन्न है, आत्मा का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं और न उनका आत्मा से कोई सम्बन्ध है; क्योकि वे पर है। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य के अतिरिक्त अन्य पदार्थ जिनका प्रतिक्षण अनुभव होता है, वे आत्मा से सर्वथा जुदे है। स्त्री, पुत्र, मित्र, धन वैभव एवं ऐश्वर्य आदि पर पदार्थों में जो अपनत्व की प्रतीति हो रही है, वह मिथ्या है। जब तक प्राणी इन पर पदार्थों को अपना समझता

१—अनन्तानुबधीकषायचतुष्टयस्य मिथ्यात्वसम्यङ्मिथ्यात्वयोश्चोदयक्षयात्सदुपशमाच्च सम्यक्त्वस्य देशघातिस्पर्द्धकस्योदये तत्वार्थश्रद्धानं क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वम् ॥ —स० सि० पृ० ९२

तासामेव केसाचिदुपशमात् अन्यासा च क्षयादुपजातं श्रद्धानं क्षायोपशमिकं
—विजयोदया ३१

२—परद्रव्यनतैं भिन्न आप में रुचि सम्यक्त भला है।
—छहढाला ३ प०२

रहता है, तभी तक उसे संसार में दुःख और अशान्ति झेलनी पड़ती है; या जब उसे अपना वास्तविक स्वरूप ज्ञात हो जाता है तथा जिन पर पदार्थों के बीच वह रहता है, उनका सम्बन्ध भी मालूम हो जाता है तो वह अशान्ति से छुटकारा प्राप्त कर सकता है।

आत्म-शोधक को अपनी आत्मा, उसकी खराबियों, खराबियों के निदान और उनके दूर करने के उपाय जब अवगत हो जाते है तथा अपने ज्ञान की सत्यता पर उसे दृढ़ आस्था हो जाती है तो निश्चय वह अपनी आत्मसिद्धि में सफल होता है। नियमसार में दुःखों से स्थायी छुटकारा पाने के लिये बताया गया है—

एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥

—नि० सा० गा० १०२

अर्थ—ज्ञान, दर्शन मय एक अविनाशी आत्मा ही मेरा है। शुभाशुभ कर्मों के संयोग से उत्पन्न हुए शेष सभी पदार्थ बाह्य है—मुझ से भिन्न है, मेरे नहीं है।

आत्मविकास का प्रधान साधन सम्यग्दर्शन है, सम्यक् श्रद्धा ही साधना की भूमिका तैयार करती है अतः प्रत्येक व्यक्ति को आत्मा का विश्वास कर परपदार्थों से वैराग्य प्राप्त करना चाहिये।

सम्यग्ज्ञान—नय और प्रमाणों द्वारा जीवादि पदार्थों को यथार्थ जानना सम्यग्ज्ञान[1] है। दृढ आत्म विश्वास के अनन्तर ज्ञान मे सम्यक्‌पना आता है। यों तो ससार के पदार्थों को कम या अधिक रूप में प्रत्येक व्यक्ति जानता है, पर उस ज्ञान का यथार्थ में आत्मविकास के लिये उपयोग कम ही व्यक्ति करते है। सम्यग्दर्शन के पश्चात् उत्पन्न हुआ ज्ञान आत्मविकास का कारण अवश्य होता है। स्व और पर का भेदविज्ञान ही वस्तुतः सम्यग्ज्ञान है। इस सम्यग्ज्ञान की बडी भारी महिमा बतायी गयी है।

ज्ञान समान न आन जगत में सुखको कारन।
इह परमामृत जन्म-जरा-मृत्यु रोग-निवारन॥
कोटि जन्म तप तपे, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे।
ज्ञानी के छिन माहि, त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते॥
मनिव्रत धार अनन्तवार ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो॥

—छहढाला अ० ४ प० २-३

१—नयप्रमाणविकल्पपूर्वको जीवाद्यर्थयाथात्म्यावगम सम्यग्ज्ञानम्।
—रा० वा० अ० १ सू० १

येन येन प्रकारेण जीवादयः पदार्थाव्यवस्थितास्तेन तेनावगम' सम्यग्ज्ञानम्। —स० सि० अ० १ सू०

अर्थ—संसार में सम्यग्ज्ञान के समान और कोई सुख देनेवाला पदार्थ नहीं है। जन्म, जरा और मृत्यु इन रोगों को दूर करने के लिये ज्ञानरूपी अमृत ही महान् औषधि है। ज्ञान के बिना जो कर्म करोडों जन्मों तक तपस्या करने पर नष्ट होते हैं, उन्हें ज्ञानी मन, वचन, काय को वश कर गुप्तियों द्वारा क्षणभर में ही नष्ट कर देता है। अनन्त बार नव ग्रैवेयकों में पैदा होने पर भी आत्मज्ञान के बिना इस जीव को कुछ सुख नहीं मिला।

रुपया, पैसा, कुटुम्बी, हाथी, घोड़े, मोटर, महल, मकान आदि कोई भी काम आनेवाला नहीं है; सब यही पड़े रह जायँगे। आत्मज्ञान ही कल्याण करनेवाला है। विषय-वासनारूपी आग को ज्ञानरूपी जल ही शान्त कर सकता है। क्योंकि स्व-पर भेद विज्ञान द्वारा यह जीव शुद्ध आत्मस्वरूप का अनुभव कर सकता है।

निश्चय सम्यग्ज्ञान अपने आत्मस्वरूप को जानना ही है। जिसने आत्मा को जान लिया उसने सबको जान लिया, जो आत्मा को नहीं जानता है वह सब कुछ जानता हुआ भी अज्ञानी है। इसी दृष्टिकोण को लेकर स्याद्वादमंजरी में कहा गया है—

ऐको भावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वे भावा सर्वथा तेन दृष्टाः।
सर्वे भवाः सर्वथा येन दृष्टाः, एको भवः सर्वथा तेन दृष्टः॥

अर्थ—जिसने आत्मा को सब दृष्टिकोणों से जान लिया है, उसने सब पदार्थों को सब प्रकार से ज्ञात कर लिया है। जिसने सब प्रकार से सब भावों को देखा है वही आत्मा को अच्छी तरह जानता है। अत. निश्चय सम्यग्ज्ञान द्वारा अपने आत्मस्वरूप को अच्छी तरह जाना जा सकता है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित व्रत, गुप्ति, समिति आदि का अनुष्ठान करना, उत्तम क्षमादि दस धर्मों का पालन करना, मूलगुण और उत्तर गुणों का धारण करना सम्यक् चारित्र[1] है। अथवा 'विषय, कषाय, वासना, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहरूप क्रियाओं से निवृत्ति करना सम्यक् चारित्र है'[2]। चारित्र वस्तुतः आत्मस्वरूप है, यह कषाय और वासनाओं से सर्वथा रहित है। मोह, क्षोभ से रहित जीव की जो निर्विकाररूप प्रवृत्ति होती है, जिससे जीव में साम्यभाव की उत्पत्ति होती[3] है, चारित्र

१—पचाचारादिरूप दृगवगमयुत सच्चरित्र च भाक्तमित्यादि
—अ० क० मा० श्लो० १३

२—असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्त।
वद-समिदि-गुत्तिरूववहारणयादु जिण-भणिय॥
—द्र० सं० गा० ४५

३—साम्य तु दर्शन-चारित्रमोहनीयोदयापादितसमस्तमोहक्षोभाभावादत्यन्त निर्विकारो जीवस्य परिणाम।
—प्रवचनसार टी० ७

है। प्रत्येक व्यक्ति अपने चारित्र के बल से ही अपना सुधार या बिगाड करता है, अतः मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को सदा अच्छे रूप में रखना आवश्यक है। मन से किसी का बुरा नहीं सोचना, वचन से किसी को बुरा नहीं कहना तथा शरीर से कोई बुरा कार्य नहीं करना सदाचार है।

विषय-तृष्णा और अहकार की भावना मनुष्य को सम्यक् आचरण करने से रोकती है। विषय-तृष्णा की पूर्ति के लिये ही व्यक्ति प्रतिदिन अन्याय, अत्याचार, बलात्कार, चोरी, बेईमानी, हिसा आदि पापों को करता है। तृष्णा को शान्त करने के लिये वह स्वयं अशान्त हो जाता है तथा भयकर से भयकर पाप कर डालता है। अतः विषय निवृत्तिरूप चारित्र को धारण करना परम आवश्यक है। गुणभद्राचार्य ने तृष्णा का बडा सुन्दर वर्णन किया है—

आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मन् विश्वमणूपमम् ।
तत्कियद् कियदायाति वृथा वै विषयैषिता ॥

अर्थ—प्रत्येक प्राणी का आशारूपी गड्ढा इतना विशाल है कि उसके सामने समस्त विश्व का वैभव भी अणु के तुल्य है। इस स्थिति में यदि ससार की सम्पत्ति का बटवारा किया जाय तो प्रत्येक प्राणी के हिस्से में कितनी आयगी ? अत विषय-तृष्णा व्यर्थ है। रत्नत्रय ही सच्ची शान्ति देनेवाला है, यही सच्चा सुखदायक है।

मिगे षड्द्रव्यमनस्तिकाय मेनिपंदं तत्ववेळ मर्न ।
बुगलोंवत्तु पदार्थमं तिळिदोड तन्नात्मर्ना मेन्य दं ॥
दुगदिं वेरोडलेन चेतनमे जीवं चेतनं ज्ञानरू ।
पिडिगायंदरिदिर्दने सुखियला ! रत्नाकराधीश्वरा ॥३॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल ये छः द्रव्य हैं। जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, और आकाशास्तिकाय, ये पाँच अस्तिकाय हैं। जीवतत्त्व, अजीवतत्त्व, आश्रवतत्त्व, बंधतत्त्व, संवरतत्त्व, निर्जरातत्त्व, और मोक्षतत्त्व, ये सात तत्त्व हैं। इनमें पुण्य और पाप के मिलने से नौ पदार्थ बन जाते हैं। इन सभी बातों को भलीभाँति जानकर जो श्रद्धा करता है तथा अपनी आत्मा को शरीर से पृथक् समझता है वही अपना कल्याण करता है। शरीर अचेतन है, जीव चैतन्य और ज्ञान स्वरूप। जो मनुष्य ऐसा जानता है वही सुखी रह सकता है, अर्थात् इस भेद का ज्ञाता ही सुखी होता है ॥३॥

विवेचन—पाँच अस्तिकाय, छःद्रव्य, सात तत्त्व और नौ पदार्थों का जो श्रद्धान करता है, वही सम्यग्दृष्टि श्रावक होता है। जैनागम में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन द्रव्यों के समूह का नाम लोक बतलाया है। ये द्रव्य स्वभाव सिद्ध, अनादिनिधन, त्रिलोक के कारण हैं। द्रव्य की परिभाषा "गुण-पर्ययवत् द्रव्यम्" अर्थात् जिसमें गुण और पर्याय हों वह द्रव्य है,

इस रूप में बतायी गयी है। प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव परिणामनशील है तथा द्रव्य में परिणाम—पर्याय उत्पन्न करने की जो शक्ति है वही गुण और गुण से उत्पन्न अवस्था पर्याय कहलाती है। गुण कारण है और पर्याय कार्य है। प्रत्येक द्रव्य में शक्तिरूप अनन्तगुण है तथा प्रत्येक गुण क भिन्न भिन्न समयो में होनेवाले त्रैकालिक पर्याय अनन्त है। द्रव्य स्वभाव का परित्याग न करता हुआ उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य से युक्त है। जैन-दर्शन में द्रव्य को कूटस्थ नित्य या निरन्वय विनाशी नही माना गया है, बल्कि परिणामनशील उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्यात्मक माना गया है। जीव, पुद्गल आदि छः द्रव्यों से पृथक् संसार में कोई वस्तु नहीं है, जितने भी जड़, चेतनात्मक पदार्थ दिखलायी पडते हैं, वे सब इन्हीं द्रव्यो के अन्तर्गत है।

जिस प्रकार अन्य दर्शनो मे द्रव्य और गुण दो स्वतत्र पदार्थ माने गये है, उस प्रकार जैन दर्शन मे नहीं। जैन दर्शन मे गुण और गुणविकार—पर्याय इन दोनों के समुदाय का नाम द्रव्य बताया है। कुन्दकुन्दाचार्य ने गुण और पर्यायों के आश्रय का नाम ही द्रव्य बतलाया है —

दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वधुवत्तसंजुत्तं।

गणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हं॥

उप्पत्तीवविणासो दव्वस्स य णत्थि अत्थि सब्भावो।

विगमुप्पादधुवत्तं करोंति तस्सेव पज्जाया ॥

प्रा० सा० गा० १०—११

अर्थ—द्रव्य का लक्षण सत् या उत्पाद, व्यय ध्रौव्यात्मक अथवा गुण और पर्यायों का आश्रयात्मक बताया गया है। द्रव्य की न उत्पत्ति होती है और न विनाश, वह तो सत्स्वरूप है, पर उसकी पर्यायें सदा उत्पत्ति, विनाश ध्रौव्यात्मक है। अर्थात् द्रव्य न उत्पन्न होता है और न नष्ट, किन्तु उसकी पर्यायें उत्पन्न और विनाश होती रहती है। इसीलिये द्रव्य को नित्यानित्यात्मक माना गया है।

जीव—आत्मा स्वतंत्र द्रव्य है, अनन्त है, अमूर्त है, ज्ञान-दर्शनवाला है, चैतन्य है, ज्ञानादि पर्यायों का कर्ता है, कर्मफल भोक्ता है, स्वयं प्रभु है। यह जीव अपने शरीर के प्रमाण है। कुन्दकुन्दाचार्य ने जीव द्रव्य का स्वरूप बतलाते हुए लिखा है—

अरसमरूवमगंध अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।

जाव अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥—प्रा० सा० २,८०

अर्थ—जिसमें रूप, रस, गन्ध न हों, तथा इन गुणों के न रहने से जो अव्यक्त है, शब्दरूप भी नहीं है, किसी भौतिक चिन्ह से भी जिसे कोई नहीं जान सकता है, जिसका न कोई निर्दिष्ट

आकार है उस चैतन्य गुण विशिष्ट द्रव्य को जीव कहते है।

व्यवहार नय से इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास इन चार प्राणो द्वारा जो जीता है, पहले जिया था और आगे जीवेगा उसे जीव द्रव्य कहते है। निश्चय नय से जिसमें चेतना पायी जाय वह जीव है। जीव द्रव्य के शुद्ध और अशुद्ध या भव्य और अभव्य ये दो भेद है। जीव द्रव्य के साथ जब तक कर्म-रूपी बीज का सम्बन्ध है तब तक भवाङ्कुर उत्पन्न होता रहता है और जन्म-मरण आदि नाना रूप से विभाव परिणमन होता रहता है। यही जीव की अशुद्ध अवस्था है। इस अवस्था को दूर करने के लिये जीव संयम, गुप्ति, समिति चरित्र आदि का पालन करता है तथा सवर और निर्जरा द्वारा घातिया कर्मो को क्षीण करके शुद्धावस्था प्राप्त करता है। यह अवस्था भी जीव की बिल्कुल शुद्ध नहीं है, क्योंकि अघातिया कर्म अभी शेष है। अत पूर्ण शुद्ध अवस्था मोक्ष होने पर होती है। अशुद्ध जीव ससारी और शुद्ध जीव मुक्त कहलाता है।

जैन-दर्शन में प्रत्येक जीव की सत्ता स्वतंत्ररूप से मानी गयी है, अतः यहाँ जीवों की अनेकता है।

पुद्गलद्रव्य—"स्पर्शरसगन्धवर्णवन्त पुद्गलाः" अर्थात् जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चार गुण पाये जायँ उसे

पुद्गल कहते हैं। अभिप्राय यह है कि जो हम खाते है, पीते है, छूते है, सूंघते हैं वह सब पुद्गल है। छहों द्रव्यों में पुद्गल द्रव्य ही मूर्त्तिक है, शेष पाँच द्रव्य अमूर्त्तिक है। हमारे दैनिक व्यवहार में जितने पदार्थ आते हैं वे सभी पुद्गल हैं। हमें जितने पदार्थ दिखलायी पडते हैं, वे भी सब पुद्गल ही हैं। पुद्गल का क्षेत्र बहुत व्यापी है। जीव द्रव्य के अनन्तर पुद्गल का महत्त्वपूर्ण स्थान आता है, क्योंकि जीव और पुद्गल के संयोग से संसार चलता है, इन दोनों का संयोग अनादि काल से चला आ रहा है। पुद्गल द्रव्य के दो भेद हैं—अणु और स्कन्ध ; अणु पुद्गल के सबसे छोटे टुकडे को कहते हैं, यह इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं होता है, केवल स्कन्धरूप कार्य को देखकर इसका अनुमान किया जाता है।

दो या अधिक परमाणुओं के बन्ध से जो द्रव्य तैयार होता है, उसे स्कन्ध कहते है। स्कन्ध द्रव्य के आगम में तेईस भेद बताये गये हैं। पुद्गल द्रव्य की पर्यायें निम्न बतायी गयी है—

सद्दो बंधो सुहुमो थूलो संठाण भेद तमछाया।
उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया ॥—द्रव्य सं० गा० १६

अर्थ—शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, आकार, खण्ड, अन्धकार, छाया, चाँदनी और धूप ये सब पुद्गल द्रव्य की पर्यायें है।

प्रकारान्तर से पुद्गल के छः भेद है—बादरबादर, बादर, बादरसूक्ष्म, सूक्ष्मबादर, सूक्ष्म और सूक्ष्मसूक्ष्म। जिसे तोड़ा-फोड़ा जा सके तथा दूसरी जगह ले जा सकें उसे बादरबादर स्कन्ध कहते है; जैसे पृथ्वी, काष्ठ, पाषाण आदि। जिसे तोडा-फोड़ा न जा सके, पर अन्यत्र ले जा सकें उस स्कन्ध को बादर कहते है, जैसे जल, तैल आदि। जिस स्कन्ध का तोड़ना, फोड़ना या अन्यत्र लेजाना न हो सके, पर नेत्रो से देखने योग्य हो उसको बादरसूक्ष्म कहते है, जैसे छाया, आतप, चॉदनी आदि। नेत्र को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों के विषय भूत पुद्गल स्कन्ध को सूक्ष्म-स्थूल कहते है; जैसे शब्द, रस, गन्ध आदि। जिसका किसी इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण न हो सके उसको सूक्ष्म कहते है, जैसे कर्म। जो स्कन्ध रूप नहीं है ऐसे अविभागी पुद्गल परमाणुओ को सूक्ष्म-सूक्ष्म कहते है। इस प्रकार भाषा, मन, शरीर, कर्म आदि भी पुद्गल के अन्तर्गत है।

धर्म द्रव्य—इसका अर्थ पुण्य नहीं है, किन्तु यह एक स्वतन्त्र द्रव्य है, जो जीव और पुद्गलों के चलने में सहायक होता है। छहों द्रव्यों में क्रियावान् जीव और पुद्गल है, शेष चार द्रव्य निष्क्रिय है, इनमें हलन-चलन नहीं होता है। यह द्रव्य गमन करते हुए जीव और पुद्गलों को सहायक होता है, प्रेरणा करके

नहीं चलाता। यह अमूर्त्तिक द्रव्य समस्त लोकाकाश में व्याप्त है यद्यपि चलने की शक्ति द्रव्यों में वर्त्तमान है, पर बिना धर्म द्रव्य की सहायता के गमन क्रिया नहीं हो सकती है।

अधर्म द्रव्य---इसका अर्थ भी पाप नहीं है. किन्तु यह भी एक स्वतन्त्र अमूर्त्तिक द्रव्य है। यह ठहरते हुए जीव और पुद्गलों को ठहरने में सहायक होता है। यह भी प्रेरणा कर किसी को नहीं ठहराता, पर ठहरते हुए जीव और पुद्गलों को सहायता देता है। इसकी सहायता के बिना जीव, पुद्गलों की स्थिति नहीं हो सकती है। बलपूर्वक प्रेरणा कर यह किसीको नहीं ठहराता है, इसका अस्तित्व समस्त लोक में वर्त्तमान है।

आकाश द्रव्य---जो सभी द्रव्यों को अवकाश देता है, उसे आकाश कहते है। यह अमूर्त्तिक और सर्व व्यापी है। आकाश के दो भेद है---लोकाकाश और अलोकाकाश। सर्वव्यापी आकाश के बीच में लोकाकाश है, यह अकृत्रिम, अनादि-निधन है और इसके चारों ओर सर्वव्यापी अलोकाकाश है। लोकाकाश में छहों द्रव्य पाये जाते हैं और अलोकाकाश मे केवल आकाश ही है। आकाश के इस विभाजन का कारण धर्म और अधर्म द्रव्य है। इन दोनों के कारण ही जीव और पुद्गल लोकाकाश की मर्यादा से बाहर नहीं जाते।

काल—वस्तुओं की हालत बदलने मे सहायक काल द्रव्य होता है। यद्यपि जैन दर्शन के अनुसार सभी द्रव्यों में पर्याय बदलने की शक्ति वर्त्तमान है, फिर भी काल द्रव्य की सहायता के बिना परिवर्त्तन नहीं हो सकता है। यह परिणामनशील पदार्थों के परिवर्त्तन में सहायक होता है। काल के दो भेद हैं—निश्चय काल और व्यवहार काल।

लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर जुदे-जुदे कालाणु स्थित है, ये रत्नों की राशि के समान अलग-अलग है, इन कालाणुओं को ही निश्चय काल कहते है, तथा इन कालाणुओं के निमित्त से ही प्रति क्षण परिणामन होता रहता है। आचार्य नेमिचन्द सिद्धान्त-चक्रवर्ती ने निश्चयकाल को सिद्ध करते हुए लिखा है—

कालोविय ववएसो सब्भावपरुवओ हवदि णिच्चो।

उप्पाण्णप्पद्धंसी अवरो दीहंतर ट्ठाई ॥—गो० जी० गा० ५७९

अर्थ—काल यह संज्ञा मुख्यकाल की बोधक है, क्योंकि बिना मुख्य के गौण अथवा व्यवहार की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यह मुख्यकाल द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नित्य है तथा पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा उत्पन्नध्वंसी है। व्यवहार काल वर्तमान की अपेक्षा उत्पन्नध्वंसी है और भविष्यत् की अपेक्षा दीर्घान्तरस्थायी है।

समय, आवली, श्वासोच्छ्वास, स्तोक, घटी, प्रहर, दिन, रात सप्ताह, पक्ष, मास, वर्ष और युग आदि को व्यवहार काल कहते है। व्यवहार काल की उत्पत्ति सौर-जगत से होती है अतः व्यवहार-काल का व्यवहार मनुष्य क्षेत्र—ढाई द्वीप में ही होता है। क्योंकि मनुष्य क्षेत्र में ही ज्योतिषी देवों का गमन होता है, मनुष्य क्षेत्र के बाहर ज्योतिषी देव स्थिर हैं।

उपर्युक्त छ द्रव्यों में से जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पाँच द्रव्य अस्तिकाय है, काल को अस्तिकाय नहीं माना जाता है। क्योंकि आगम मे बहुप्रदेशी द्रव्य को अस्तिकाय बताया गया है। काल के अणु असख्यात होने पर भी परस्पर में अबद्ध हैं। जिस प्रकार आकाश के प्रदेश एकत्र सम्बद्ध और अखण्ड है या पुद्गल के प्रदेश कभी मिलते है और कभी बिछुडते है, उस प्रकार काल द्रव्य के प्रदेश नहीं है। वे सदा रत्नराशि के समान एकत्र रहते हुए भी अबद्ध रहते है। इसीलिये काल को अस्तिकाय नहीं माना जाता।

तत्त्व सात बताये गये है। इन सातों में जीव और अजीव दो मुख्य है, क्योंकि इन्हीं दोनो के सयोग से ससार चलता है। जीव के साथ अजीव—जड पौद्गलिक कर्मों का सम्बन्ध अनादिकाल से चला आ रहा है। जीव की प्रत्येक क्रिया और

उसके प्रत्येक विचार का प्रभाव स्वतः अपने ऊपर पडने के साथ कर्म वर्गणाओं— बाह्य भौतिक पदार्थों पर जो आकाश में सर्वत्र व्याप्त है, पड़ता है जिससे कर्म रूप परमाणु अपनी भावनाओं के अनुसार खिच आते है और आत्मा के साथ सम्बद्ध हो जाते है।

आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने इस कर्मबन्ध की प्रक्रिया का बड़े सुन्दर ढग से वर्णन किया है—

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये ।

स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥

परिणममानस्य चितश्चिदात्मकै, स्वयमपि स्वकैर्भावैः ।

भवति हि निमित्तमात्र पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥

अर्थ—जीव के द्वारा किये गये राग, द्वेष, मोहरूप परिणामों को निमित्त पाकर पुद्गल परमाणु स्वतः कर्मरूप से परिणत हो जाते हैं। जीव अपने चैतन्य रूप भावों से स्वतः परिणत होता है, पुद्गल कर्म तो निमित्तमात्र है। जीव और पुद्गल परस्पर एक दूसरे के परिणमन में निमित्त होते है। अभिप्राय यह है कि अनादि कालीन कर्म परम्परा के निमित्त से आत्मा में राग-द्वेष की प्रवृत्ति होती है, जिससे मन, वचन और काय में अद्भुत हलन-चलन होता है, तथा राग द्वेष रूप प्रवृत्ति के परिमाण और गुण

के अनुसार पुद्गल द्रव्य में परिणमन होता है और वह आत्मा के कार्माण—वासनामय सूक्ष्म कर्म शरीर में आकर मिल जाता है। इस प्रकार कर्मों से रागादि भाव और रागादि भावों से कर्मों की उत्पत्ति होती है।

सारांश यह है कि राग-द्वेष, मोह, विकार, वासना आदि का पुद्गल कर्मबन्ध की धारा के साथ बीजवृक्ष की सन्तति के समान अनादि सम्बन्ध चला आ रहा है तथा जब तक इस कर्म सन्तान को तोड़ने का जीव प्रयत्न न करेगा यह सम्बन्ध चलता ही चला जायगा। क्योंकि पूर्वबद्ध कर्म के उदय से राग द्वेष, मोह, आदि विकार उत्पन्न होते हैं, इनमें आसक्ति या लगन हो जाने से नवीन कर्म बन्धते हैं। जो जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा विकारों के उत्पन्न होने पर आसक्त नहीं होता अथवा विकारों को ही उत्पन्न करने वाले कर्म को उदय में आने के पहले ही नष्ट कर देता है, अवश्य छूट जाता है। पर जो कुछ भी पुरुषार्थ नहीं करता, कर्म के फन्दे में पड़कर उसके फल को सहता रहता है, वह अपना उद्धार नहीं कर सकता। कर्मों के उदय से विकारों का उत्पन्न होना स्वाभाविक है, पर पुरुषार्थी व्यक्ति उन विकारों के वश में नहीं होता, तथा उन्हें अपना विभाव रूप परिणमन समझ कर भिन्न समझता है।

कोई कोई प्रबुद्ध साधक विकारों को उत्पन्न करनेवाले कर्मों को ही नष्ट कर देते है, पर यह काम सबके लिये संभव नहीं। इतना पुरुषार्थ तो गृहस्थ और त्यागी प्रत्येक व्यक्ति ही कर सकता है कि विकारो के उत्पन्न होने पर उनके आधीन न हो और पररूप समझ कर उनकी अवहेलना कर दे। कविवर दौलतराम ने राग और विराग का सुन्दर वर्णन किया है, उन्होंने समझाया है कि राग के कारण ही संसार के भोग विलास सुन्दर प्रतीत होते है, जब प्राणी उन्हे अपने से भिन्न समझ लेते है, तो उसे वे भोग विलास भयकर विषैले सॉप के समान प्रतीत होने लगते है।

राग उदै भोग-भाव लागत सुहावने से,
विना राग ऐसे लागैं जैसे नागकारे हैं।
राग ही सौं पाग रहे तन म सदीव जीव,
राग गये आवत गिलानि होत न्यारे हैं।
राग सौं जगत रीति झूठी सब सांच जाने,
राग मिटे सूझत असार खेल सारे हैं।
रागी विन रागी के विचार में बड़ो ही भेद,
जैसे भटा पथ्य काहु काहु को वयारे हैं।

अर्थ—मोह के उदय से यह जीव भोग विलास से प्रेम करता है, उसे भोग विलास अच्छे लगते है। राग रहित जीव

को ये भोग विलास काले सॉप के समान भयकर प्रतीत होते है। राग के कारण यह जीव शरीर को ही सब कुछ समझता है, किन्तु राग के नष्ट होने पर शरीर से ग्लानि हो जाती है तथा शरीर को आत्मा से भिन्न समझने लगता है जिससे पाप, अत्याचार और अनीति आदि कार्य करना बिल्कुल बन्द कर देता है। राग के कारण ही यह जीव दुनिया के झूठे नाते, रिश्ते और रीति रिवाजों को सत्य मानता है, पर राग के दूर होने पर दुनिया का खेल आखो के सामने प्रत्यक्ष दिखलायी पडने लगता है। रागी (मोही) विरागी (निर्मोही) के विचार में बडा भारी अन्तर है, भटा (बैगन) किसी को पथ्य होता है किसी को अपथ्य।

अतएव जीव तत्त्व और अजीवतत्त्व के स्वरूप और उसके सम्बन्ध को जानकर प्रत्येक भव्य को अपनी आत्मा का कल्याण करने की ओर प्रवृत्त होना चाहिये। आगे के तत्त्वों में आस्रव और बन्ध तत्त्व ससार के कारण है तथा सवर और निर्जरा मोक्ष के।

आस्रव——कर्मों के आने के द्वार को आस्रव कहते है। आत्मा में मन, वचन और शरीर की क्रिया द्वारा स्पन्दन होता है, जिससे कर्म परमाणु आते है, इस आने का नाम ही आस्रव है। अथवा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन

बन्ध के कारणों को आस्रव कहते है। आस्रव के मूल दो भेद है—भावास्रव और द्रव्यास्रव। जिन भावों द्वारा कर्मों का आस्रव होता है उन्हें भावास्रव और जो कर्म आते हैं उन्हें द्रव्यास्रव कहते है। कर्मों का आना और उनका आत्म प्रदेशों तक पहुँचना द्रव्यास्रव है। भावास्रव के ५७ भेद है—५ मिथ्यात्व १२ अविरति १५ प्रमाद २५ कषाय।

मिथ्यादृष्टि जीव अपने आत्मस्वरूप को भूल कर शरीर आदि परद्रव्यों से आत्मबुद्धि करता है, जिसमे उसके समस्त विचार और क्रियाएँ शरीराश्रित होती है। वह स्वपर विवेक से रहित होकर लोक मूढताओं को धर्म समझता है। वासना और कषायों को पूर्ण करने के लिये अपने जीवन को व्यर्थ खो देता है। ज्ञान, शरीर, बल, वैभव, आदि का घमड कर मदोन्मत्त हो जाता है, जिससे इस मिथ्यादृष्टि जीव के सक्लेशमय परिणामों के रहने के कारण अशुभ आस्रव होता है। प्रत्येक आत्मकल्याण के इच्छुक जीव को इस मिथ्यात्व अवस्था का त्याग करना आवश्यक है। मिथ्यात्व के लगे रहने से जीव शराबी के समान आत्मकल्याण से विमुख रहता है। अतएव आत्मतत्त्व की दृढ श्रद्धा करने पर ही जीव कल्याणकारी रास्ते पर आगे कदम बढ़ा सकता है।

अव्रती सम्यग्दृष्टि श्रावक आत्मविश्वास के उत्पन्न हो जाने पर भी असयम, कषाय, प्रमाद, योग के कारण कर्मों का अशुभ आस्रव मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा कुछ कम करता है। व्रती जीव प्रमाद और कषायों के रहने पर अव्रती की अपेक्षा कम अशुभ आस्रव करता है। आत्मा के शान्त और निर्विकारी स्वरूप को अशान्त और विकारी क्रोध, मान, माया, एवं लोभ कषायें ही बनाती हैं। कषाय से युक्त आस्रव संसार का कारण होता है। प्रमाद एवं कषायों के दूर हो जाने पर योग के निमित्त से होनेवाला आस्रव और भी कम होता चला जाता है। आस्रव--कर्मो के आने को दुःख का कारण बताया है।

बन्ध—दो पदार्थों के मिलने या विशिष्ट सम्बद्ध होने को बन्ध कहते है। बन्ध दो प्रकार का होता है—भावबन्ध और द्रव्यबन्ध। जिन राग-द्वेष आदि विभावों से कर्म-वर्गणाओं का बन्ध होता है, उन्हें भाव बन्ध और जो कर्म वर्गणाएं आत्म प्रदेशों के साथ मिलती है, उन्हे द्रव्यबन्ध कहते है। कर्म-वर्गणाओं के मिलने से आत्मा के परिणमन में विलक्षणता आ जाती है तथा आत्मा के संयोग से कर्म स्कन्धो का कार्य भी विलक्षण हो जाता है। कर्म आत्मा से मिल जाते हैं, पर उनका तादात्म्य सबन्ध नहीं होता। दोनों—जीव और पुद्गल का स्वभाव भिन्न-

भिन्न है। जीव का स्वभाव चेतन है, और पुद्गल का स्वभाव अचेतन, अतः ये दोनों अपने अपने स्वभाव में स्थित रहते हुए भी परस्पर में मिल जाते है।

बन्ध चार प्रकार का माना गया है प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध अनुभागबन्ध। प्रकृतिबन्ध स्वभाव को कहते हैं, जैसे नीम की प्रकृति कडुवी और गुड़ की मीठी होती है उसी प्रकार बन्ध को प्राप्त हुई कार्माण वर्गणाओं में जो ज्ञान को रोकने, दर्शन को आवरण करने, मोह को उत्पन्न करने, सुख-दुःख देने आदि का स्वभाव पडता है इसका नाम प्रकृतिबन्ध है। अभिप्राय यह है कि आयी हुई कार्माण वर्गणाएँ यदि किसी के ज्ञान में बाधा डालने की क्रिया से आयी है तो ज्ञानावरण का स्वभाव; दर्शन में बाधा डालने की क्रिया से आयी है तो दर्शनावरण का स्वभाव, सुख, दुख में बाधा डालने की क्रिया से आयी है तो साता, असाता वेदनीय का स्वाभाव पड़ेगा। इसी प्रकार आगे-आगे भी कर्मों के सम्बन्ध में समझना चाहिये। आत्मा के प्रदेशो के साथ कार्माण वर्गणाओ का मिलना अर्थात् एकक्षेत्रावगाही होना प्रदेशबन्ध है। स्वभाव पड़ जाने पर अमुक समय तक वह आत्मा के साथ रहेगा, इस प्रकार की काल मर्यादा का बनना स्थितिबन्ध है। फल देने की शक्ति का पडना अनुभागबन्ध है।

संवर——आस्रव का रोकना सवर है। आस्रव मन, वचन और काय से होता है अतः मूलतः मन, वचन तथा काय की प्रवृत्ति को रोकना सवर है। चलना, फिरना, बोलना, आहार करना, मल-मूत्र विसर्जन करना आदि क्रियाएँ नहीं रुक सकती है इसलिये मन, वचन, और शरीर की उद्दण्ड प्रवृत्तियों को रोकना सवर है। सवर के गुप्ति के साथ समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र भी हेतु बताये गये हैं। यह सवर मोक्ष का कारण है।

निर्जरा——कर्मों का झडना निर्जरा है। इसके दो भेद है, सविपाक और अविपाक। स्वाभाविक क्रम से प्रतिक्षण कर्मों का अपना फल देकर झड जाना सविपाक और तप आदि साधनों के द्वारा कर्मों को बलात् उदय में लाकर बिना फल दिये झडा देना अविपाक निर्जरा होती है। सविपाक निर्जरा हर क्षण प्रत्येक ससारी जीव के होती रहती है तथा नूतन कर्म भी बन्धते रहते हैं, पर अविपाक निर्जरा कर्म नाश में सहायक होती है। क्योंकि सवर द्वारा नवीन कर्मों का आना रुक जाने पर पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा हो जाने से क्रमशः मोक्ष की प्राप्ति होती है।

मोक्ष——समस्त कर्मों का छूट जाना मोक्ष है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय और मोहनीय इन चार घातिया

कर्मों के नाश होने पर जीवन मुक्त अवस्था—अर्हंत अवस्था की प्राप्ति होती है। यह जीव कर्मों के कारण ही पराधीन रहता है, जब कर्म अलग हो जाते है तो इसके अपने ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य गुण प्रकट हो जाते है। जीवन मुक्त अवस्था में कर्मों के अभाव के कारण आहार ग्रहण करना और मल-मूत्र का त्याग करना भी बन्द हो जाता है, कैवल्य प्राप्ति हो जाने से सभी पदार्थों का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। पश्चात् शेष चार कर्म आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय के नाश हो जाने से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार द्रव्य, तत्त्व और पदार्थों के स्वरूप परिज्ञान द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को अपना आत्मिक विकास करना चाहिये। तत्त्वों के स्वरूप को समझे बिना हेयोपादेय रूप प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। अतः चैतन्य, ज्ञान, आनन्द रूप आत्मतत्त्व की प्राप्ति के लिये सर्वदा प्रयत्न करना चाहिये।

अरिविंदी ल्विसलक्कुमात्मनिरुवं देहंवोली कण्गेतां।
गुरियागं शिलेयोळ्सुवर्ण मरलोळ्सोरम्भमा क्षीरदोळ् ॥
नरु नेय्काष्टदोळग्नि यिर्पतेरदिंदी मेयोळोंदिर्पने—
दरिदभ्यासिसे कण्गुमेदरूपिदे ! रत्नाकराधीश्वरा ॥४॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

आत्मा की स्थिति को ज्ञान के द्वारा देख सकते हैं। जिस प्रकार स्थूल शरीर इन चर्म चक्षुओं को गोचर है उस प्रकार आत्मा गोचर नहीं है।

स्थूल के पीछे वह सूक्ष्म शक्ति उस प्रकार विद्यमान है जिस प्रकार पत्थर में सोना, पुष्प में पराग, दूध में सुगन्ध तथा घी और लकड़ी में आग। शरीर के अन्दर आत्मा की स्थिति को इस प्रकार जानकर अभ्यास करने से इसकी प्रतीति होगी। आपने ऐसा कहा ॥४॥

विवेचन—आत्मा शरीर से भिन्न है, यह अमूर्तिक, सूक्ष्म, ज्ञान, दर्शन, आदि चैतन्य गुणों का धारी है। अरूपी होने के कारण आँखों से इसका दर्शन नहीं हो सकता है। स्थूल शरीर ही हमें आँखो से दिखलायी पडता है, किन्तु इस शरीर के भीतर रहनेवाला आत्मा अनुभव से ही जाना जा सकता है, आँखें उसे नहीं देख सकतीं। कविवर बनारसीदास ने नाटक समयसार में आत्मा के चैतन्यमय स्वरूप का विश्लेषण करते हुए बताया है—

जो अपनी दुति आपु विराजत है परधान पदारथ नामी।
चेतन अंक सदा निकलंक, महासुखसागर को विसरामी॥
जीव अजीव जिते जगमें, तिनको गुन ग्यायकअतरजामी॥
सो शिवरूप वसै शिवनायक, ताहि विलोकन में शिवगीमी।

अर्थात्—जो आत्मा अपने ज्ञान, दर्शनरूप चैतन्य स्वभाव के कारण स्वय शोभित हो रहा है वही प्रधान है। यह सदा कर्ममल से रहित, चेतन अनन्तसुख का भण्डार, ज्ञाता, द्रष्टा है। शुद्ध आत्मा ही ससार के सभी पदार्थों को अपने अनन्त ज्ञान द्वारा

जानता है, अनन्तदर्शन द्वारा देखता है, यह मोक्ष स्वरूप है, इसके शुद्धरूप के दर्शन करने से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। अभिप्राय यह है कि आत्मा का अस्तित्व शरीर से भिन्न है यह शरीर में रहता हुआ भी शरीर के स्वरूप और गुणों से अछूता है।

विश्व में प्रधानतः दो प्रकार के पदार्थ है—जड़ और चेतन। आत्मा विश्व के पदार्थों का अनुभव करनेवाला, ज्ञाता, द्रष्टा है। जीवित प्राणी ही इन्द्रियों द्वारा संसार के पदार्थों को जानता, देखता, सुनता, छूता, सूंघता, और स्वाद लेता है, तथा वस्तुओं को पहचान कर उनके भले बुरे रूप का विश्लेषण करता है। इसीमें सुख, दुःख के अनुभव करने की शक्ति वर्तमान है, संकल्प-विकल्प भी इसीमें पाये जाते है, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि भावनाएँ; इच्छा-द्वेष प्रभृति वासनाएँ भी इसी में पायी जाती है। अतः मालूम होता है कि शरीर से भिन्न कोई आत्मतत्व है। इस आत्मतत्व की अनुभूति प्रत्येक व्यक्ति सदा से करता चला आ रहा है। चाहे अज्ञानता के कारण कोई व्यक्ति भले ही भौतिक शरीर से भिन्न आत्मा के अस्तित्व को न माने, पर अनुभव द्वारा उसकी प्रतीति सहज में प्रतिदिन होती रहती है।

हृदय का कार्य चिन्तन करना और बुद्धि का कार्य पदार्थों का निश्चय करना है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि हृदय और

बुद्धि के द्वारा जो विभिन्न व्यापार होते है, इन दोनों के व्यापारों का एकत्र ज्ञान करने के लिये जो प्रत्यभिज्ञा करनी पड़ती है, उसे कौन करता है तथा उस प्रत्यभिज्ञा द्वारा इन्द्रियों को तदनुकूल दिशा कौन दिखलाता है। इन सारे कार्यों को करनेवाला मनुष्य का जड शरीर तो हो नहीं सकता; क्योंकि जब शरीर की चेतन क्रिया नष्ट हो जाती है, आत्मा शरीर से निकल जाता है, उस समय शरीर के रह जाने पर भी उपर्युक्त कार्य नहीं होते हैं।

कल जिसने कार्य किया था, आज भी वही मै कार्य कर रहा हूँ, इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान जड शरीर से उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योकि जड शरीर में प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न करने की शक्ति नहीं। यह प्रत्यभिज्ञान की शक्ति शरीराधिष्ठित चेतन आत्मा के मानने पर ही सिद्ध हो सकती है। प्रतिक्षण प्रत्येक कार्य में 'मैं' या 'अहं' भाव की उत्पत्ति भी इस बात की साक्षी है कि शरीर से भिन्न कोई चेतन पदार्थ भी है जो सदा 'अहं' का अनुभव करता रहता है। संभवत कुछ भौतिकवादी यहाँ यह प्रश्न कर सकते है कि हृदय, बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ, और शरीर इनके समुदाय का नाम ही 'अहं' या 'मै' है, इनके समुदाय से भिन्न कोई 'अहं' या 'मै' नही। पर विचार करने पर यह गलत मालूम होगा; क्योंकि किसी मशीन के भिन्न भिन्न कल पुर्जों के एकत्रित करने

पर भी उसमें गति नहीं आती है। जो गुण पृथक् पृथक् पदार्थों में नहीं पाया जाता है, वह पदार्थो के समुदाय में कहाँ से आ जायगा ? जब चेतन क्रिया के कार्य इन्द्रियाँ, बुद्धि, हृदय और शरीर में पृथक् पृथक् नहीं पाये जाते है, तो फिर ये एकत्रित होने पर कहाँ से आ जायँगे ?

तर्क से भी यह बात साबित होती है कि शरीर बुद्धि, हृदय और इन्द्रियों के समुदाय का व्यापार जिसके लिये होता है, वह इस सघात से भिन्न कोई अवश्य है, जो सब बातों को जानता है। वास्तव में शरीर तो एक कारखाना है, इन्द्रियाँ, बुद्धि, मन, हृदय प्रभृति उसमें काम करनेवाले है; पर इस कारखाने का मालिक कोई भिन्न ही है जिसे आत्मा कहा जा सकता है। अतएव प्रतीत होता है कि मानव शरीर के भीतर भौतिक पदार्थों के अतिरिक्त अन्य कोई सूक्ष्म पदार्थ है, जिसके कारण वह विश्व के पदार्थो को जानता, तथा देखता है। क्योंकि यह शक्ति प्राणी में ही पायी जाती है। यद्यपि आजकल विज्ञान के द्वारा निर्मित अनेक मशीनों में चलने फिरने, दौडने और विभिन्न प्रकार के काम करने की शक्ति देखी जाती है; पर उनमें भी सोचने, विचारने और अनुभव करने की शक्ति नहीं पायी जाती।

सचेतन प्राणी ही लाभ, हानि, गुण, दोष आदि का पूरा-पूरा

विचार करता है, भौतिक पदार्थ नहीं। इसीलिये अनुभव के आधार पर यह डके की चोट से कहा जा सकता है कि शरीर से भिन्न चेतन स्वरूप, अमूर्त्तिक अनेक गुणों का धारी आत्मतत्त्व है। यदि इस आत्मतत्त्व को न माना जाय तो स्मरण, विकार सकल्प, विकल्प आदि की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। सज्ञानी प्राणी ही पहले देखे हुए पदार्थ को देख कर कह देता है कि यह वही पदार्थ है जिसे मैंने अमुक समय मे देखा था। मसीन या अन्य प्रकार के एञ्जिनों में इसका सर्वथा अभाव पाया जाता है। यह स्मरण शक्ति ही बतलाती है कि पूर्व और उत्तर समय में देखने वाला एक ही है, जो आज भी वर्तमान है। इसी प्रकार ज्ञान, सकल्प, विकल्प, राग-द्वेष प्रभृति भावनाएँ, काम-क्रोध-मान आदि विकार भी आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं। प्रमेय-रत्न-मालाकार ने आत्मा की सिद्धि निम्न प्रकार की है —

तदर्हजस्तनेहातो रक्षोदृष्टेर्भवस्मृतेः ।
भूतानन्वयनात्सिद्धः प्रकृतिज्ञः सनातनः ॥

अर्थ——तत्काल उत्पन्न हुए बालक को स्तन पीने की इच्छा होती है, इच्छा प्रत्यभिज्ञान के बिना नहीं हो सकती; प्रत्यभिज्ञान स्मरण के बिना नहीं हो सकता और स्मरण अनुभव के बिना नहीं होता है। अतः अनुभव करनेवाला

आत्मा है। अनेक व्यक्ति मरने पर व्यन्तर हो जाते हैं, वे स्वय किसीके सिर आकर कहते है कि हम अमुक व्यक्ति है, इससे भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। अनेक व्यक्तियों को पूर्व जन्म का स्मरण भी होता है, यदि आत्मा अनादि नहीं होता तो फिर यह पूर्व भव—जन्म का स्मरण कैसे होता ? पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश इन पच भूतों के साथ आत्मा की व्याप्ति नहीं है अर्थात् अचेतन के साथ आत्मा की व्याप्ति नहीं है; अतएव शरीर से भिन्न आत्मा है।

यह आत्मा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा जाना जाता है, अपने प्राप्त शरीर के बराबर है तथा समस्त शरीर में आत्मा का अस्तित्व है; शरीर के किसी एक प्रदेश में आत्मा नहीं है, अविनाशी है, अत्यन्त आनन्द स्वभाव वाला है तथा लोक और अलोक को देखनेवाला है। इसमें संकोच और विस्तार की शक्ति है, जिससे जब शरीर छोटा होता है, तो यह छोटे आकार में व्याप्त रहता है और जब शरीर बडा हो जाता है तो यह बड़े आकार में व्याप्त हो जाता है। कविवर बनारसीदास ने आत्मा का वर्णन करते हुए कहा है—

चेतनवंत अनंत गुन, पर्यय सकल अनंत।
अलख अखंडित सर्वगत, जीव दरव चिरतंत॥

अर्थात---यह आत्मा चेतन है, अनन्त गुण और पर्यायों का धारी है। यह अमूर्तिक है, जिससे कोई इसे नहीं देख सकता है, यह अखडित है, सभी प्राणियों में इसका अस्तित्व है। इस प्रकार आत्मा के स्वरूप का श्रद्धान करने से विषयों से विरक्ति होती है तथा आत्मिक उत्थान की ओर प्राणी अग्रसर होता है।

कल्लोळ्तोर्प पोगसुवर्णद गुणं काष्टागळोळ्तोपं के-
च्चेल्ला किच्चिन चिन्हवा केनेयिरल्पालोळ्घृतच्छायेये ॥
देल्लर वरिणपरंतुटी तनुविनोळ् चैतन्यमुं वोधमुं।
सोल्लुं जीवगुणंगळेदरूपिदै ! रत्नाकराधीश्वरा ॥५॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

पत्थर में जो काँति दिखलाई पडती है वह सोने का गुण है। वृक्षों में अग्नि का अस्तित्व है। खौलते हुए दूध में जो मलाई का अश दिखाई पड़ता है वह घी का चिन्ह है। सब लोग ऐसा जानते हैं। ठीक इसी प्रकार इस शरीर में चेतन स्वभाव ज्ञान और दर्शन जीव के गुण हैं। आपने ऐसा समझाया ॥५॥

विवेचन---इस शरीर में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यरूप शक्ति आत्मा की है। अत आत्मिक शक्ति का यथार्थ परिज्ञान कर बाह्य पदार्थों से ममत्व बुद्धि का त्याग करना चाहिये। एक कवि ने कहा है---

आतम हित जो करत है, सो तनको अपकार।
जो तनका हित करत है, सो जिय का अपकार ॥

अर्थात्—जो तप, ध्यान, त्याग, पूजन आदि के द्वारा आत्मा का कल्याण किया जाता है, वह शरीर का अपकार है। क्योंकि विषय निवृत्ति से शरीर को कष्ट होता है; धनादि की वाञ्छा का परित्याग करने से मोही प्राणी कष्ट का अनुभव करता है। तात्पर्य यह है कि तप, ध्यान, वैराग्य से आत्म-कल्याण किया जाता है, इनसे शरीर का हित नहीं होता, अतः शरीर को पर वस्तु समझ कर उसके पोषण करनेवालो को धन, धान्य की वाञ्छा नहीं करनी चाहिये। धन, धान्य आदि परिग्रह तथा विषय-वासनाओं द्वारा शरीर का हित होता है, पर ये सब आत्मा के लिये अपकारक है, अतः आत्मा के लिये हितकारक कार्यों को ही करना चाहिये।

इस प्राणी का आत्मा के अतिरिक्त कोई नहीं है, यह अशुद्ध अवस्था मे शरीर मे उस प्रकार निवास करता है, जिस प्रकार लकडी मे अग्नि, दही मे घी, तिलो मे तैल, पुष्पों में सुगन्ध, पृथ्वी में जल का अस्तित्व रहता है। इतने पर भी यह शरीर से बिल्कुल भिन्न है। जिस प्रकार वृक्ष पर बैठनेवाला पक्षी वृक्ष से भिन्न है, शरीर पर धारण किया गया वस्त्र जैसे शरीर से भिन्न है, उसी प्रकार शरीर मे रहने पर भी आत्मा शरीर से भिन्न है। दूध और पानी मिल जाने पर जैसे एक द्रव्य प्रतीत होते है, इसी प्रकार कर्मों के संयोग से बद्ध आत्मा भी शरीररूप मालूम पड़ता

है। वास्तविक विचार करने पर यह आत्मा शरीर से भिन्न प्रतीत होगा। इसके स्वरूप, गुण आदि आत्मा के स्वरूप गुण की अपेक्षा बिल्कुल भिन्न है, आत्मा जहाँ चेतन है, शरीर वहाँ अचेतन, शरीर विनाशीक है, आत्मा नित्य है, शरीर अनित्य, अतः शरीर में सर्वत्र व्यापी आत्मा को समझ कर अपना आध्यात्मिक क्रमिक विकास करना चाहिये।

यदि भ्रम वश कोई व्यक्ति लकडी को अग्नि समझ ले, पत्थर को सोना मान ले, मलाई को घी मान ले तो उसका कार्य नहीं चल सकता है; इसी प्रकार यदि कोई शरीर को ही आत्मा मान ले तो वह भी अपना यथार्थ कार्य नहीं कर सकता है तथा यह प्रतिभास मिथ्या भी माना जायगा। हाँ, जैसे लडकी में अग्नि का अस्तित्व, पत्थर में सोने का अस्तित्व, फूल में सुगध का अस्तित्व सदा वर्तमान रहता है उसी प्रकार ससारावस्था में शरीर में आत्मा का अस्तित्व रहता है। प्रबुद्ध साधक का कर्तव्य है कि वह शरीर में आत्मा के अस्तित्व के रहने पर भी, उससे भिन्न आत्मा को समझे। शरीर को अनित्य, क्षणध्वसी समझ कर संसार में सुख, आनन्द, ज्ञान, दर्शन, रूप आत्मा ही उपादेय है; अतएव लोभ, मोह, माया, मान, क्रोध आदि विकारों को तथा वासनाओं को छोड़ना चाहिये।

जब जीव शरीर को ही आत्मा मान लेता है तो वह मृत्यु पर्यन्त भी भोगों से निवृत्ति नहीं होता, कविवर भर्तृहरि ने अपने वैराग्य शतक में बताया है—

निवृत्ता भोगेच्छा पुरुषबहुमानो विगलितः

समानाः स्वर्याताः सपदि सुहृदो जीवितसमाः ।

शनैर्यष्ट्योत्थानं घनतिमिररुद्धे च नयने

अहो धृष्टः कायस्तदपि मरणापायचकितः ॥

अर्थ—बुढापे क कारण भोग भोगने की इच्छा नहीं रहती है, मान भी घट गया है, बराबरीवाले चल बसे—मृत्यु को प्राप्त हो गये है, जो घनिष्ट मित्र अवशेष रह गये है वे भी अब बुड्ढे हो गये है। बिना लकडी के चला भी नही जा सकता, आँखों के सामने अन्धेरा छा जाता है। इतना सब होने पर भी हमारा शरीर कितना निर्लज्ज है कि अपनी मृत्यु की बात सुनकर चौक पड़ता है। विषय भोगने की वाञ्छा अब भी शेष है, तृष्णा अनन्त है, जिससे दिनरात सिर्फ मनसूबे बाधने में व्यतीत होते है।

यह जीवन विचित्र है, इसमें तनिक भी सुख नहीं। बाल्यावस्था खेलते-खेलते बिता दी, युवावस्था तरुणी नारी के साथ विषयों में गवॉ दी और वृद्धावस्था आने पर आख, कान, नाक आदि इन्द्रियॉ बेकाम हो गयी है; जिससे घर बाहर का कोई भी आदर नहीं

करता है, बुढापे के कारण चला भी नही जाता है। इस प्रकार की असमर्थ अवस्था में आत्मकल्याण की ओर प्रवृत्ति करना कठिन हो जाता है। शरीर में रहते हुए भी आत्मा को शरीर से भिन्न समझ उसे पृथक् शुद्ध रूप में लाने का प्रयत्न करना प्रत्येक मानव का कर्तव्य है। जैसे अशुद्ध, मलिन सोने को आग में तपा कर सोहागा डालने से शुद्ध किया जाता है, उसी प्रकार इस अशुद्ध आत्मा को भी त्याग और तप के द्वारा निर्मल किया जा सकता है। जो प्राणी यह समझ लेता है कि विषय भोग और वासनाएँ आत्मा की मलिनता को बढाने वाली हे वह इनका त्याग अवश्य करता है। यह जीव अनादिकाल से इन विषयों का सेवन करता चला आ रहा है, पर इनसे तनिक भी तृप्ति नहीं हुई, क्योंकि मोह और लोभ के कारण यह अपने रूप को भूले हुए है। कविवर दौलतरामजी ने कहा है।

मोह-महामद पियो अनादि। भूल आपको भरमत वादि॥

अर्थ—ससारी जीव मोह के वश में होकर मनुष्य, देव, तिर्यंच और नरक गति में जन्म-मरण के दुःख उठा रहे हैं, इन्हें अपने स्वरूप का यथार्थ परिज्ञान नहीं। अतः विषय भोगों से विरक्त होने का प्रयत्न करना चाहिये।

मत्ताकल्लने सोदिसल्कनक्रम काण्बते पालं क्रमं-
वेत्तोळ्पि मथनगेयल् घृतमुम काण्वंते काष्ठगळं ॥
ओत्तंब पोसेदग्नि काण्बतेरदि मेयूवेरे वेरानेनु ।
त्तित्तभ्यासिसेलेन्न काण्बुदरिदे ? रत्नाकराधीश्वरा ॥६॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

जिस प्रकार पत्थर के शोधने से सोना, दूध के क्रम पूर्वक मथन से नवनीत तथा काष्ठ के घर्षण से अग्नि उत्पन्न होती है उसी प्रकार 'शरीर अलग है और मै अलग हूँ' इस भेद विज्ञान का अभ्यास करने से क्या अपने आप आत्मा को देख सकना असाध्य है ? ॥६॥

विवेचन —आत्मा और शरीर इन दोनों के स्वरूप-चिन्तवन द्वारा भेद विज्ञान की प्राप्ति होती है, यह आत्मा पूर्वोपार्जित कर्म परम्परा के कारण इस शरीर को प्राप्त करता है, 'शरीर और आत्मा' इन दोनों के पृथक्त्व चिन्तन द्वारा अनादि बद्ध आत्मा शुद्ध होता है। जीव जब यह समझ लेता है कि यह शरीर, ये सुन्दर वस्त्राभूषण, यह दिव्य रमणी, यह सुन्दर पुस्तक, यह सुन्दर कुरसी, यह सुन्दर भव्य प्रासाद—मकान, चमकते हुए सुन्दर वर्तन, यह बढ़िया टेबुल प्रभृति समस्त पदार्थ स्वभाव से जड़ है, इनका आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है, तो यह अपने चैतन्य सत स्वभाव में स्थित हो जाता है।

अज्ञानी मोही जीव मोह के कारण अपने साथ बन्धे हुए शरीर को और नहीं बन्धे हुए धन, सम्पत्ति, पुत्र, कलत्रादि को अपना समझता है तथा यह जीव मिथ्यात्व, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विभावों के संयोग के कारण अपने को रागी द्वेषी, क्रोधी, मानी, मायावी और लोभी समझता है, पर वास्तव में यह बात नहीं है। ये शरीर, धन, सम्पत्ति, वैभव, स्त्री, पुत्र, परिजन आदि पदार्थ आत्मा के नहीं, आत्मा का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। पुद्गल जीव रूप नहीं हो सकता है। आत्मा शरीर से भिन्न अमूर्तिक, शुद्ध, बुद्ध ज्ञाता, द्रष्टा है।

देह और आत्मा के भेद ज्ञान को जानकर तथा मोहनी कर्म के उदय से उत्पन्न हुए विकल्प जाल को त्याग कर, विकार रहित चैतन्य चमत्कारी आत्मा का अनुभव करना भेद विज्ञान है। भेद विज्ञानी अपनी बाह्य आँखों से शरीर को देखता है तथा अन्तर्दृष्टि द्वारा आत्मा को देखता है। जो ससार में भ्रमण करने वाले जीव है उनकी दृष्टि और प्रवृत्ति इस देह की ओर होती है। इसीलिये किसीको धनी, किसीको दरिद्री, किसीको मोटा, किसीको दुबला, किसी को बलवान, किसीको कमजोर, किसीको सच्चा, किसीको झूठा, किसीको ज्ञानी, किसीको अज्ञानी के रूप में देखते है। पर ये सब आत्म के धर्म नहीं; यह व्यवहार केवल

शरीर, धन आदि बाह्य पदार्थों के निमित्त से होता है। जिसकी दृष्टि जैसी होगी, उसे वस्तु भी वैसी ही दिखलायी पड़ेगी। एक ही वस्तु को विभिन्न व्यक्ति विभिन्न दृष्टिकोणों से देख सकते है। जैसे एक सुन्दर स्वस्थ गाय को देखकर चमार कहेगा कि इसका चमड़ा सुन्दर है, कसाई कहेगा कि इसका मास अच्छा है, ग्वाला कहेगा यह दूध देनेवाली है, किसान कहेगा कि इसके बछडे बहुत मजबूत होंगे। कोई तत्वज्ञ कहेगा कि आत्मा की कैसी विचित्र-विचित्र प्रवृत्तियाँ है, कभी यह मनुष्य शरीर में आबद्ध रहता है तो कभी पशु शरीर में।

पुद्गल पदार्थों पर दृष्टि रखनेवाले को अनन्त शक्तिशाली आत्मा भी देहरूप दिखलाई पडता है। आध्यात्मिक भेद विज्ञान की दृष्टिवाले को प्रत्यक्ष दिखलाई देनेवाला यह शरीर भी चैतन्य आत्मशक्ति की सत्ता का धारी तथा उसके विलास मन्दिर के रूप में दिखलायी पडता है। भेद-विज्ञान की दृष्टि प्राप्त हो जाने पर आत्मा का साक्षात्कार इस शरीर में ही होता है। भेद विज्ञान द्वारा आत्मा के जान लेने पर भौतिक पदार्थों से आस्था हट जाती है, स्वामी कुन्दकुन्द ने समयसार में भेदविज्ञानी की दृष्टि का वर्णन करते हुए लिखा है—

अहमिक्को खलु सुद्धो य णिम्ममो णाणदंसणसमग्गो।
ताम्हि ठिदो तच्चित्तो सव्वे एदे खयं णेमि ॥७८॥

अर्थ—मैं निश्चय से शुद्ध हूँ, ज्ञान, दर्शन से पूर्ण हूँ। मैं अपने आत्मस्वरूप में स्थित एवं तन्मय होता हुआ भी इन सभी काम, क्रोधादि आस्रव भावों को नाश करता हूँ। जीव के साथ बन्धरूप क्रोधादि आस्रव भाव क्षणिक हैं, विनाशीक हैं, दुःखरूप हैं, ऐसा समझ कर भेद-विज्ञानी जीव इन भावों से अपने को हटाता है। भेद विज्ञान द्वारा एक मैं शुद्ध हूँ, चैतन्य निधि हूँ, कर्मों से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं, मेरा स्वभाव त्रिकाल में भी किसीके द्वारा विकृत नहीं होता है।

मोह के विकार से उत्पन्न यह शरीर अथवा अन्य बाह्य पदार्थ जिनमें ममत्व बुद्धि उत्पन्न हो गयी है, मेरे नहीं हैं। पौद्गलिक भाव मुझमे बिलकुल भिन्न है, मेरा इनसे कोई सम्बन्ध नहीं। मेरा स्वभाव इनके स्वभाव से विलक्षण है। मेरी शक्ति अच्छेद्य और अभेद्य है। प्रत्यक्ष से अनन्त एव अनुपम सुख का भाण्डार यह आत्मा प्रतीत हो रहा है, वर्णादि या रागादि इससे पृथक् हैं जैसे घड़े में घी रखने पर भी घड़ा घी का नहीं हो जाता है या घी घडे का रूप नहीं धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा के इस शरीर में रहने पर भी पुद्गल का कोई भी रूप, रसादि गुण इसमें नहीं आता है और न आत्मा का चैतन्य गुण ही इस शरीर में पहुँचता है। आत्मा और शरीर कर्मबन्धन के कारण साथ रहते हुए भी

परस्पर में असम्बद्ध हैं। दोनों में तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। सयोग सम्बन्ध है। जो कभी भी दूर किया जा सकता है। जब आत्मा मोह, त्तोभ के कारणीभूत इस शरीर को अपने से भिन्न मानने लगता है, तो निश्चय छूट जाता है।

मिथ्या मोह से मोहित आत्मा जबतक अपने को नहीं पहचानता है, तबतक कर्मबद्ध रहता है तथा कषाय और विकार रूपी चोर आत्मधन को चुराते रहते है। किन्तु जब यह आत्मा सजग हो जाता है तो चोर अपने आप भाग जाते है। आत्माधीन जितना सुख है वही वास्तविक है। पराधीन जितना सुख है, वह सब दु:खरूप है, अतः सुख को आत्माधीन करना चाहिये। भेद विज्ञानी आत्मा को सदा सजग, अमोही, निर्विकारी, शुद्ध, बुद्ध, अखण्ड, अविनाशी समझता है।

अंगुष्ट मोदलागि नेत्तिवरेगं सर्वांग संपूर्ण नु-
त्तुंगज्ञानमयं सुदर्शनमय चारित्र तेजो मयं ॥
मागल्यं महिम स्वयंभु सुखि निर्बाधं निरापेक्ष्ति नि-
स्सगंबोल्परमात्मनेंद रुपिदे ! रत्नाकराधीश्वरा ॥७॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

चरण के अंगूठे से लेकर मस्तिष्क तक शरीर के प्रत्येक अवयव में परमात्मा विद्यमान है। वह ज्ञान—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन सम्यक्-

चारित्र या तेजस्वरूप, अतिशयवाला कर्मबद्ध होकर अपने स्वरूप में स्थित अनन्त शक्ति, अनन्त सुख आदि गुणों का धारी तथा विषय की आसक्ति रहित है। आपने ऐसा समझाया ।।७।।

विवेचन—आत्मा संकोच विस्तारकी शक्ति के कारण समस्त शरीर में है। यह जिस प्रकार के छोटे-बडे शरीर में पहुँचता है, उतना ही बडा हो जाता है। जब यह हाथी के शरीर में पहुँचता है, तो हाथी के शरीर के बराबर हो जाता है। जब चींटी के शरीर में पहुँचता है तो चींटी के शरीर के बराबर हो जाता है। अतः जिस प्रकार शरीर विकसित होता जाता है, वैसे आत्म-प्रदेश भी विकसित होते जाते है। बच्चा जब छोटा रहता है तो आत्मा के प्रदेश उसके उस छोटे से शरीर में व्याप्त रहते हैं पर जब वही बच्चा बडा हो जाता है तो आत्मा के प्रदेश विकसित होकर उसके बडे शरीर के प्रमाण हो जाते है।

आत्म-प्रदेश शरीर के किसी एक हिस्से में नहीं है, किन्तु समस्त शरीर में है। कुछ दार्शनिक आत्मा को वट-बीज समान लघु मानते है तथा वे कहते है कि इस आत्मा की गति बडी तेजी से होती है जिससे शरीर के जिस हिस्से में सुख-दुःख के अनुभव करने की आवश्यकता होती है, वहाँ यह पहुँच जाता है। हर एक क्षण यह आत्मा घूमता रहता है, एक क्षण के लिये भी इसे

विश्राम नहीं। आचार्य ने इस मिथ्या धारणा का खण्डन करने के लिये आत्मा को समस्त शरीर व्यापी बतलाया है। जैसे दूध में घी, तिल में तैल और पुष्प में सुगन्ध सर्वत्र रहती है, उसी प्रकार यह आत्मा भी शरीर के प्रत्येक अवयव में वर्तमान है। यह वट-कणिका के समान कभी नहीं हो सकता; क्योंकि किसी भी प्रिय वस्तु के मिल जाने पर सर्वाङ्गीण सुख के अनुभव का अभाव हो जायेगा। प्रसन्नता होने पर सर्वाङ्गीण सुख एक ही क्षण में अनुभव गम्य है, अतः आत्मा को शरीर व्यापी मानना चाहिये।

आत्मा के निवास के सम्बन्ध में दूसरा सिद्धान्त है कि आत्मा व्यापी और विराट् है। यह कहता है कि आत्मा एक अखण्ड अमूर्तिक पदार्थ है, जो मनुष्य के समस्त शरीर में व्याप्त है तथा शरीर से बाहर भी समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। एक ही विराट् ब्रह्म संसार के सभी प्राणियों में वर्तमान है।

यदि उपर्युक्त सिद्धान्त पर विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि आत्मा शरीर से बाहर नहीं रहता है तथा सभी प्राणियों के शरीर में एक ही आत्मा नहीं है। यदि सभी के शरीर में एक ही आत्मा होता तो जिस समय एक व्यक्ति को सुख होता है, उस समय सभी व्यक्तियों को सुख होना चाहिये; क्योंकि सभी के शरीर में अनुभव करनेवाला आत्मा एक ही है। यदि एक व्यक्ति को

दुःख होता है तो सभी को दुःख होना चाहिये; क्योंकि सभी का आत्मा एक है। परन्तु सभी को एक साथ दुःख या सुख नहीं देखा जाता है, अतः एक विश्व व्यापी विराट् आत्मा की स्थिति बुद्धि नहीं स्वीकार करती है। इसलिये आत्मा एक अखण्ड, अमूर्तिक पदार्थ है यह समस्त शरीर में व्याप्त है, शरीर से बाहर इसकी स्थिति नहीं है और न यह शरीर के किसी एक भाग मे केन्द्रित है।

प्रत्येक शरीर स्थित आत्मा शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से परमात्म स्वरूप है। उसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र वर्तमान है। कर्म बन्ध के कारण ये गुण आत्मा के आच्छादित है, इसलिये परमात्म-पद की प्राप्ति नहीं हो रही है। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के आत्मा में परमात्मा बनने की योग्यता वर्तमान है। इसलिये यहाँ एक परमात्मा नहीं है, अनेक परमात्मा है। आत्मा के वास्तविक गुणों की अभिव्यक्ति हो जाने पर यह आत्मा परमात्मा बन जाता है।

दर्शन, ज्ञान, चारित्र का धारी आत्मा जब निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर आत्मा में लीन हो जाता है, उस समय उसके कर्मों का बन्ध नहीं होता। यदि यह निर्विकल्पक समाधि अन्तर्मुहूर्त काल (२४ मिनट) तक ठहर जाय तो फिर इस जीव को परमात्मा

बननेमें देर न लगे। कविवर बनारसीदास ने निम्न पद्य में बड़ा ही सुन्दर आध्यात्मिक चित्रण किया है। कविने यह बतलाने का प्रयास किया है कि ज्ञान, दर्शन का अनुभव करनेवाला आत्मा परमात्मा किस प्रकार बन जाता है तथा उसकी दृष्टि किस प्रकार की हो जाती है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि की प्राप्ति हो जाने पर परपरिणति बिल्कुल हट जाती है, मनवाञ्च्छित भोगोपभोग उसे विनाशीक, अहित कारक दिखलायी पडने लगते है। वह सब कुछ करता हुआ भी ससार से पृथक् रहता है। कवि कहता है—

ज्ञान उदै जिनके घट अन्तर, ज्योति जगी मति होय न मैली।
वाहिज दृष्टि मिटी जिन्हके हिय, आतम ध्यान कलाविधि फैली॥
जे जड़ चेतन भिन्न लखै सु विवेक लिये परखै गुन थैली।
ते जगमें परमारथ जानि गहै रुचि मानि अध्यातम सैली॥

निर्वाण प्राप्ति में साधक रत्नत्रय को जो कि आत्मा का गुण है, अपने में जाग्रत करना चाहिये। नानाप्रकार के संक्लेश सहने से, कषायों में लिप्त रहने से, अज्ञानता पूर्वक तपस्या करने से परमात्म पद की प्राप्ति नहीं हो सकती है। प्रत्येक मनुष्य दुःख से घबड़ाकर सुख की अभिलाषा करता है, यह सुख कहीं बाहर नहीं है अपने आत्मा में ही है; जब आत्मा अपने स्वरूप को पहचान लेता है, तो इसके सभी दुःख मिट जाते है। अपने स्वरूप को

भूल जाने से ही आत्मा को कष्ट है। यह मानी हुई बात है कि जबतक कोई भी व्यक्ति परवस्तु को अपनी मानता है, तबतक वह परवस्तु के नाश, विनाश, विकास में दुखी, सुखी होता है। किन्तु जिस क्षण उसे यह मालूम हो जाता है कि यह वस्तु मेरी नहीं है, उसी क्षण उसका विषाद नष्ट हो जाता है। अत आत्म-दृष्टि प्राप्त हो जाने का सीधा साधा अर्थ यही है कि अपने को अपने रूप में और पर को पर रूप में समझें। द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय के ग्रहण करने योग्य जो रूपादि विषय हैं, उन्हें परवस्तु समझ कर त्याग देना और निज शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न परमानन्द रूप अतीन्द्रिय सुख के रस का अनुभव करना यही साधक का कर्तव्य है। ध्यान लगाकर आत्मा का चिन्तन करने से अपूर्व आनन्द की प्राप्ति होता है।

> त्रिम्मिलि कदद वेंकिय सुडद नीरं नाव्दुआसि भे-
> दिम्मलुं वारद चिन्मयं मरेदु तन्नोळ्पं परध्यानदिं ॥
> पसिविंदी बहुयाधेयिं रुजेगळ फेडागुवीमैयूगेसं-
> दिसिदं तन्नने चिंतिसल्सुखियला ! रत्नाकरा धीश्वरा ॥८॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

धूप से कभी निस्तेज न होनेवाला, अग्नि से भस्म न होनेवाला, पानी से कभी विगलित न हो सकने वाला, तीक्ष्ण तलवार से न कटने

वाला ज्ञान और दर्शन स्वरूप आत्म तत्व है। वह परवस्तु की चिन्ता से रहित है। मनुष्य, अपने स्वरूप को ज्ञात कर, भूख-प्यास आदि बाधाओं से युक्त नाशवान् शरीर को प्राप्त कर भी, यदि अपने स्वरूप का ध्यान करे तो क्या सुख नही हो सकता ? ॥८॥

विवेचन—यह आत्मा अमर है। यह अनादि, स्वतः सिद्ध, उपाधि हीन एवं निर्दोष है। इसलिये तीक्ष्ण शस्त्रों से इसका छेद नहीं हो सकता। जलप्लावन से यह भींग नहीं सकता और न आग इसको जला सकती है। पवन की शोषक शक्ति इसे सुखा नहीं सकती। धूप कभी निस्तेज नहीं कर सकता है। यह अविनाशी, स्थिर, और शाश्वत है। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य सम्यक्त्व, अगुरु लघुत्व आदि आठ गुण इस आत्मा में विद्यमान है। ये गुण इस आत्मा के स्वभाव है, आत्मा से अलग नही हो सकते है। जो व्यक्ति इस शरीर को प्राप्त कर आत्मा की साधना करता है, ध्यान करता है वह इसे अवश्य प्राप्त कर सकता है।

शरीर के नाश होने पर भी यह आत्मा इस प्रकार नष्ट नहीं होता जैसे मकान के अन्दर का आकाश जो मकान के आकार का होता है, मकान गिरा देने पर भी मूल स्वरूप में ज्यों का त्यों अविकृत रहता है। ठीक इसी प्रकार शरीर के नाश हो जाने पर भी आत्मा नित्य ज्यों का त्यों रहता है। इसलिये आचार्य ने

इसका, वीतराग, चिदानन्द, अखण्ड, अमूर्तिक, सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान, अनुभव रूप अभेद रत्नत्रय, लक्षण बताया है। मनोगुप्ति आदि तीन गुप्ति रूप समाधि में लीन निश्चयनय से निज आत्मा ही निश्चय सम्यक्त्व है, अन्य सब व्यवहार है। अतः आत्मा ही ध्यान करने योग्य है। जैसे दाख चन्दन, इलायची, बादाम आदि पदार्थों से बनायी गयी ठढाई अनेक रस रूप है, फिर भी अभेदनय की अपेक्षा से एक ठढाई ही कहलाती है, इसी प्रकार शुद्धात्मानुभूति स्वरूप निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि अनेक भावों से परिणत हुआ आत्मा अनेक रूप है, तो भी अभेदनय की विवक्षा से आत्मा एक है।

निर्मल आत्मा का ध्यान करने से ही अन्तमुहूर्त म निर्वाण-पद की प्राप्ति हो जाती है। जब समस्त शुभाशुभ विकल्प-संकल्पों को छोड आत्मा निर्विकल्पक समाधि में लीन हो जाता है, तो समस्त कर्मों की शृखला टूट जाती है। यद्यपि इस पंचम काल में शुक्ल ध्यान की प्राप्ति नहीं हो सकती है, फिर भी धर्म ध्यान के द्वारा आत्मा को शुद्ध किया जा सकता है। ध्यान का वास्तविक अर्थ यही है कि समस्त चिन्ताओ, सकल्प-विकल्पो को रोक कर मन को स्थिर करना; आत्म स्वरूप का चिन्तन करते हुए पुद्गल द्रव्य से आत्मा को भिन्न विचारना और आत्म स्वरूप मे

स्थिर होना। विशुद्ध ध्यान के द्वारा ही कर्मरूपी ईन्धन को भस्म कर स्वय साक्षात् परमात्मस्वरूप आत्म तत्त्व की प्राप्ति हो जाती है। आत्मा के समस्त गुण ध्यान के द्वारा ही प्रकट होते है। ध्यान करने से मन, वचन और शरीर की शुद्धि हो जाती है। मन के आधीन हो जाने से इन्द्रियाँ वश में आ जाती है। श्री शुभचन्द्रचार्य ने ज्ञानार्णव में मन के रोकने पर विशेष जोर दिया है—

एक एव मनोरोध सर्वाभ्युदय साधकः।
यमेवालम्ब्य: संप्राप्ता योगिनस्तत्त्वनिश्चयम् ॥
मनःशुद्धयैव शुद्धिः स्याद्देहिनां नात्र संशयः।
वृथा तद्व्यतिरेकेण कायस्यैव कदर्थनम् ॥
ध्यानशुद्धि मनःशुद्धिः करोत्येव न केवलम्।
विच्छिनत्यपि निःशङ्कं कर्मजालानि देहिनाम् ॥

अर्थ—एक मन का रोकना ही समस्त अभ्युदयों को सिद्ध करनेवाला है; क्योंकि मनोरोध का आलम्बन करके ही योगीश्वर तत्त्वनिश्चयता को प्राप्त होते है। स्वात्मानुभूति द्वारा मन की चंचलता रोकी जा सकती है। जो मन को शुद्ध कर लेते है, वे अपनी सब प्रकार से शुद्धि कर लेते है। मन की शुद्धि के बिना शरीर को कष्ट देना या तपश्चरण द्वारा कृश करना व्यर्थ है।

मन की शुद्धता केवल ध्यान की शुद्धता को ही नहीं करती है, किन्तु जीवों के कर्म-जाल को भी काटती है। जिसका मन स्थिर हो कर आत्मा में लीन हो जाता है, वह परमात्मपद को अवश्य प्राप्त हो जाता है। मन को स्थिर करने के लिये ध्यान ही साधन है।

जैन-दर्शन में ध्यान के चार भेद कहे गये है—आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। इनमें से पहले के दो ध्यान पापास्रव का कारण होने से अप्रशस्त है तथा आगेवाले दो ध्यान कर्म नष्ट करने में समर्थ होने के कारण प्रशस्त हैं। आर्त्त-ध्यान के चार भेद हैं। दुःखावस्था को प्राप्त जीव का जो ध्यान (चिन्तन) है, उसको आर्त्तध्यान कहते है। अनिष्टपदार्थों के संयोग हो जाने पर उस अर्थ को दूर करने के लिये बार-बार विचार करना अनिष्टसयोग नाम का आर्त्तध्यान है। स्त्री, पुत्र, धन, धान्य आदि इष्ट पदार्थों के नष्ट हो जाने पर उनकी प्राप्ति के लिये बार-बार विचारना इष्टवियोग नाम का दूसरा आर्त्तध्यान है। रोगादि के होने पर उसको दूर करने के लिये बार-बार विचार करना सो वेदनाजन्य तृतीय आर्त्तध्यान है। रोग के होने पर अधीर हो जाना, यह रोग मुझे बहुत कष्ट दे रहा है इसका नाश कब होगा, इस प्रकार सदा रोगजन्य दुःख का विचार करते रहना तीसरा

आर्त्तध्यान है। भविष्य काल में भोगों की प्राप्ति की आकांक्षा को मन में बार-बार लाना निदानज नाम का चौथा आर्त्तध्यान है।

हिंसा, झूठ, चोरी, विषयसंरक्षण—विषयों में इन्द्रियों की प्रवृत्ति इन चार के सम्बन्ध में चिन्तन करने से रौद्र ध्यान होता है। इस ध्यान के भी चार भेद है—जीवों के समूह को अपने तथा अन्य द्वारा मारे जाने पर, पीड़ित किये जाने पर एवं कष्ट पहुँचाये जाने पर जो चिन्तन किया जाता है या हर्ष मनाया जाता है उसे हिंसानन्द नामक रौद्रध्यान कहते है। यह ध्यान निर्दयी, क्रोधी, मानी, कुशील सेवी, नास्तिक एवं उद्दीप्त कषायवाले के होता है। शत्रु से बदला लेने का चिन्तन करना, युद्ध में प्राणघात किये गये दृश्य का चिन्तन करना एवं किसीको मारने, पीटने, कष्ट पहुँचाने आदि के उपायों का विचार करना भी हिंसानन्द नामक रौद्रध्यान है। इस ध्यानवाले के परिणाम सर्वथा हिंसक रहते है। इसलिये इस ध्यानवाला नरकगामी होता है।

झूठी कल्पनाओं के समूह से पापरूपी मैल से मलिन चित्त होकर जो कुछ चिन्तन करता है, वह मृषानन्द रौद्रध्यान कहलाता है। मै अपनी असत्य की चतुराई के प्रभाव से नाना प्रकार से धन ग्रहण करूँगा, ठगविद्या के प्रभाव से अपने कार्य की सिद्धि कर लूँगा, दुश्मनों को धोखा देकर अपने आधीन कर लूँगा,

अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये मूढ़ जनों को संकट में डाल दूँगा, इत्यादि मनसूबे बांधना, दिन रात चिन्तवन करना मृषानन्द रौद्रध्यान है।

चोरी करने की युक्तियाँ सोचते रहना, परधन या सुन्दर पर-वस्तु को हड़पने की दिन रात चिन्ता करते रहना चौर्यानन्द नामक रौद्रध्यान है। सांसारिक विषय भोगने के लिए चिन्तन करना विषय भोगने की सामग्री एकत्रित करने के लिये विचार करना एवं धन-सम्पत्ति आदि को प्राप्त करने के साधनों का चिन्तन करना विषय संरक्षण नामक रौद्रध्यान होता है। आर्त और रौद्र दोनों ही ध्यान आत्म कल्याण में बाधक है। इनसे आत्म-स्वरूप आच्छादित हो जाता है तथा स्वपरिणति लुप्त होकर पर-परिणति उत्पन्न हो जाती है। ये दोनों ही ध्यान दुर्ध्यान कह-लाते हैं, ये अनादि काल से संस्कार के बिना भी होते रहते हैं, अतः इनका त्याग करना चाहिये।

धर्मध्यान के चार भेद बताये है। जिनागम के अनुसार तत्त्वों का विचार करना आज्ञविचय, अपने तथा दूसरों के राग, द्वेष, मोह आदि विकारों को नाश करने का उपाय चिन्तन करना अपाय विचय; अपने तथा दूसरों के सुख-दुख देखकर कर्म प्रकृतियों के स्वरूप का चिन्तन करना विपाक विचय एवं लोक के स्वरूप का

विचार करना संस्थान विचय नाम का धर्म ध्यान है। इस संस्थान विचय नामक धर्म ध्यान के चार भेद हैं—पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत।

शरीर स्थित आत्मा का चिन्तन करना पिण्डस्थध्यान है। इसके लिये पाँच धारणाएँ बतायी गयी है, पार्थिवी, आग्नेय, वायवी, जलीय और तत्त्वरूपवती। पार्थिवी धारणा में एक बड़ा मध्यलोक के समान निर्मल जल का समुद्र चिन्तन करे। उसके मध्य में जम्बू-द्वीप के समान एक लाख योजन चौड़ा एक हजार पत्तेवाले तपे हुए स्वर्ण के समान रंग के कमल का चिन्तन करे। कर्णिका के बीच में सुमेरु पर्वत का चिन्तन करे। उस सुमेरु पर्वत के ऊपर पाण्डुक वन में पाण्डुक शिला का चिन्तन करे। उस पर स्फटिक मणि का आसन विचारे तथा उस आसन पर पद्मासन लगा कर अपने को ध्यान करते हुए कर्म नष्ट करने के लिये विचारे। इतना चिन्तन बार-बार करना पार्थिवी धारणा है।

आग्नेयी धारणा—उसी सिंहासन पर बैठा हुआ यह विचारे कि मेरे नाभि कमल के स्थान पर भीतर ऊपर को उठा हुआ सोलह पत्तों का एक सफेद रंग का कमल है। उस पर पीत रंग के सोलह स्वर लिखे है। अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए

ऐ ओ औ अं अः' बीच में 'हॅं' लिखा है। दूसरा कमल हृदय स्थान पर नाभि कमल के ऊपर आठ पत्तों का औंधा विचार करना चाहिये। इस कमल को ज्ञानावरणादि आठ पत्तों का कमल मानना चाहिये।

पश्चात् नाभि कमल के बीच में जहाँ 'हँ' लिखा है, उसके रेफ से धुँआ निकलता हुआ सोचे। पुनः अग्नि की शिखा उठती हुई सोचे। यह लौ उपर उठकर आठ कर्मों के कमल को जलाने लगी। कमल के बीच से फूटकर अग्नि की लौ मस्तक पर आ गयी, इसका आधा भाग शरीर के एक तरफ और शेष आधा भाग शरीर के दूसरी तरफ निकल कर दोनों के कोने मिल गये। अग्निमय त्रिकोण सब प्रकार से शरीर को वेष्टित किये हुए है। इस त्रिकोण में र र र र र र र अक्षरों को अग्निमय फैले हुए विचारे अर्थात् इस त्रिकोण के तीनों कोण अग्निमय र र र अक्षरों के बने हुए है। इसके बाहरी तीनों कोणों पर अग्निमय साथिया तथा भीतरी तीनों कोणो पर अग्निमय ॐ हँ लिखा सोचे। पश्चात् सोचे कि भीतरी अग्नि की ज्वाला कर्मों को और बाहरी अग्नि की ज्वाला शरीर को जला रही है। जलतेजलते कर्म और शरीर-दोनों ही जलकर राख हो गये है तथा अग्नि की ज्वाला शान्त हो गयी अथवा पहले के रेफ में समा गयी है, जहाँ से वह उठी

थी। इतना अभ्यास करना अग्नि धारणा है।

वायु-धारणा --फिर साधक चिन्तन करे कि मेरे चारों ओर बड़ी प्रचण्ड वायु चल रही है। इस वायु का एक गोला मण्डलाकार बनकर मुझे चारों ओर से घेरे हुए है। इस मण्डल में आठ जगह 'स्वाय स्वाय' लिखा है। यह वायु मडल कर्म तथा शरीर की रज को उडा रहा है, आत्मा स्वच्छ व निर्मल होता जा रहा है। इस प्रकार का चिन्तन करना वायु-धारणा है।

जल-धारणा—पश्चात् चिन्तन करे कि आकाश में मेघों की घटाएँ आ गयीं, बिजली चमकने लगी, बादल गरजने लगे और खूब जोर की वृष्टि होने लगी है। पानी का अपने ऊपर एक अर्धचन्द्राकार मण्डल बन गया है, जिस पर प प प प कई स्थानों पर लिखा है। ये पानी की धाराएँ आत्मा के ऊपर लगी हुई कर्म-रज को धोकर आत्मा को साफ कर रही है। इस प्रकार चिन्तवन करना जल धारणा है।

तत्वरूपवती धारणा—वही साधक चिन्तवन करे कि अब मै सिद्ध, बुद्ध, सर्वज्ञ, निर्मल, कर्म तथा शरीर से रहित, चैतन्य आत्मा हूँ। पुरुषाकार चैतन्य धातु की बनी शुद्ध मूर्ति के समान हूँ। पूर्ण चन्द्रमा के समान ज्योतिरूप दैदीप्यमान हूँ।

क्रमशः इन पाँचों धारणाओं द्वारा पिण्डस्थ ध्यान का अभ्यास करना चाहिये। तथा ध्यान के अनन्तर कुछ समय तक शुद्ध आत्मा का अनुभव करना चाहिये। यह ध्यान आत्मा के कलंक-पक को दूर कर उसके ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य गुणों को विकसित करता है।

पदस्थ ध्यान——मन्त्र पदों के द्वारा अरहत, सिद्ध, आचार्य उपाध्याय, साधु तथा आत्मा का स्वरूप विचारना पदस्थ ध्यान है। किसी नियत स्थान—नासिकाग्र या भृकुटि के मध्य में मन्त्र को विराजमान कर उसको देखते हुए चित्त को जमाना तथा उनका स्वरूप चिन्तन करना चाहिये। इस ध्यान में इस बात का चिन्तन करना भी आवश्यक है कि शुद्ध होने के लिये जो शुद्ध आत्माओं का चिन्तन किया जा रहा है, वह कर्मरज को दूर करने वाला है। इस ध्यान का सरल और साध्य रूप यह है कि हृदय में आठ पत्तों के कमल का चिन्तन करे। इन आठ पत्तों में से पाँच पत्तों पर क्रमश. 'णमो अरिहताण, णमोसिद्धाण, णमो आइरियाण, णमो उवज्झायाण, णमो लोए सव्वसाहूण' लिखा चिन्तन करे तथा शेष तीन पत्तों पर क्रमश. सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः और सम्यक्चारित्राय नम. लिखा हुआ सोचे। इस प्रकार एक-एक पत्ते पर लिखे हुए मन्त्र का ध्यान जितने समय तक कर सके, करे।

रूपस्थ ध्यान---अरिहन्त भगवान् के स्वरूप का विचार करे कि वे समवशरण में द्वादश सभाओं के मध्य में ध्यानस्थ विराजमान हैं। वे अनन्त चतुष्टय सहित परम वीतरागी है। अथवा ध्यानस्थ जिनेन्द्र भगवान् की मूर्ति का एकाग्र चित्त से ध्यान करे, पश्चात् उसके द्वारा शुद्धात्मा के स्वरूप का चिन्तन करे।

रूपातीत---सिद्धो के गुणों का विचार करे कि सिद्ध अमूर्तिक, चैतन्य, पुरुषाकार, कृतकृत्य, परम शान्त, निष्कलंक, अष्ट कर्म रहित, सम्यक्त्वादि आठगुण सहित, निर्लेप, निर्विकार एव लोकाग्र में विराजमान है। पश्चात् अपने आपको सिद्ध स्वरूप समझ कर ध्यान करे कि मै ही परमात्मा हूँ, सर्वज्ञ हूँ, सिद्ध हूँ, कृतकृत्य हूँ, निरञ्जन हूँ, कर्म रहित हूँ, शिव हूँ इस प्रकार अपने स्वरूप में लीन हो जावे।

शुक्ल ध्यान---आत्मा में कषायों के उपशम या क्षय होने से उत्पन्न होता है। इस ध्यान के उत्पन्न होने पर ध्यान, ध्याता, ध्येय का भेद मिट जाता है।

ध्यान प्रातःकाल, मध्यान्हकाल और सायंकाल मे ४८ मिनट तक करना चाहिये। ध्यान के लिये स्थान एकान्त, कोलाहल से रहित, वेश्याओं, स्त्रियों, नपुंसकों के आगमन से रहित होना चाहिये। इस स्थान के आस पास गायन, वादन, नृत्य, सगीत

आदि का संचार न होना चाहिये। डास, मच्छर अधिक न होने चाहिये तथा अन्य किसी प्रकार की बाधा भी न होनी चाहिये। चटाई या पाषाण की शिला पर अथवा स्वच्छ भूमि में पद्मासन लगा कर ध्यान करना चाहिये।

प्रसन्न मन से एकाग्र चित्त होकर नासिकाग्र भाग की ओर दृष्टि रखकर ध्यान करना आवश्यक है। ध्यान करने के पूर्व शरीर को पवित्र कर संसार के कार्यों से विरक्त हो पूर्व या उत्तर की ओर मुँह करके खडा हो जाय और हाथ नीचे किये हुए नौ वार णमोकार मंत्र का जाप कर उस दिशा में भूमि से मस्तक लगा कर नमस्कार करे। मन में यह प्रतिज्ञा करले कि जब तक इस आसन से नहीं हटूंगा, मेरे शरीर के ऊपर जो वस्त्रादि है, उन्हे छोड समस्त परिग्रह का त्याग है। पश्चात् णमोकार मंत्र पढकर तीन आवर्त और एक शिरोनति करे। इसका अभिप्राय यह है कि इस दिशा के जितने भी वन्दनीय तीर्थ, धर्मस्थान, अरिहन्त, साधु आदि हैं उन्हें मन वचन, काय से नमस्कार करता हूँ।

इस विधि से शेष तीनों दिशाओं में भी खडे हो कर णमोकार मन्त्र का नौ बार जाप करे तथा प्रत्येक दिशा में तीन आवर्त और एक शिरोनति करे। पश्चात् जिधर मुख करके खडा हुआ था,

मनुष्य भव में पञ्चेन्द्रिय शरीर बड़े सौभाग्य से प्राप्त हुआ है। इस शरीर को प्राप्त कर आत्म-कल्याण करना चाहिये। इस पौद्गलिक शरीर का संचालक चैतन्य आत्मा ही है जब तक इसके साथ आत्मा का संयोग है, तब तक यह नाना प्रकार के कार्य करता है। आत्मा के अलग होते ही इस शरीर की संज्ञा मुर्दा हो जाती है।

शरीर के भीतर रहने पर भी आत्मा अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता है, उसका ज्ञान, दर्शन रूप स्वभाव सदा वर्तमान रहता है। परमात्म प्रकाश में बताया है कि यह जीव शुद्ध निश्चय की अपेक्षा से सदा चिदानन्द स्वभाव है, पर व्यवहार नय की अपेक्षा से वीत-राग-निर्विकल्प-स्वसंवेदन ज्ञान के अभाव के कारण रागादिरूप परिणमन करने से शुभाशुभ कर्मों का आस्रव कर पुण्यवान् और पापी होता है। यद्यपि व्यवहार नय से यह पुण्य-पाप रूप है, पर परमात्मा की अनुभूति से बाह्य पदार्थों की इच्छा को रोक देने के कारण उपादेय रूप परमात्मपद को पुरुषार्थ द्वारा यह प्राप्त कर लेता है।

संसारी जीव शुद्धात्मज्ञान के अभाव से उपार्जित ज्ञानावरणादि शुभाशुभ कर्मों के कारण नर नरकादि पर्यायों में उत्पन्न होता है, विनशता है और आप ही शुद्ध ज्ञान से रहित होकर कर्मों को बाँधता

है। किन्तु शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा शक्ति रूप में यह शुद्ध है, कर्मों से उत्पन्न नर नरकादि पर्यायें नहीं होती है और स्वयं भी यह जीव किसी कर्म को नहीं बाधता है। केवल व्यवहार नय की अपेक्षा से जीव में कर्मों का बन्ध होता है, ससार चलता है। जब तक व्यवहार के ऊपर दृष्टि रहती है तब तक यह जीव ससार में भ्रमण करता है, पर जब व्यवहार को छोड़ निश्चय पर आरूढ हो जाता है, उस समय ससार छूट जाता है। यों तो व्यवहार और निश्चय सापेक्ष है। जब तक साधक की दृष्टि परिष्कृत नहीं हुई है तब तक उसे दोनो दृष्टियो का अवलम्बन करना आवश्यक है।

जब आत्मा की दृढ आस्था हो जाती है, दृष्टि परिष्कृत हो जाती है और तत्त्वज्ञान का आविर्भाव हो जाता है, उस समय साधक केवल निश्चय दृष्टि को प्राप्त कर आत्मा को शुद्ध बुद्ध, चेतन समझता हुआ इस कर्म सन्तति को नष्ट कर देता है। मनुष्य शरीर की प्राप्ति बड़े सौभाग्य से होती है, इसे प्राप्त कर साधना द्वारा कर्म सन्तति को अवश्य नष्ट कर स्वतत्र होना चाहिये। यह मनुष्य शरीर आत्मा की प्राप्ति में बड़ा सहायक है।

बीळिदर्प तनुवेब पंदोवल कूर्पासंगळ तोट्टुता-
नेक्किदर्प तनुगूडि संचरिपना मेय्गूडि तन्नोक्कुपुमं ॥

केळ्दपं तनुगूडि तत्तनुगे जीवं पेसि सुज्ञानदि ।
पोळ्दपं शिवनागियें चदुरनो ! रत्नाकराधीश्वरा ॥१०॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

आत्मा शरीर रूपी गीले चमडे के कवच को धारण किए हुए है, क्योंकि कर्मों के कारण आत्मा शरीर के साथ सचरण करता है। अपने रूप का विचार करने एच शरीर की जुगुप्सा करने से सज्ज्ञान में प्रवेश करता है। इस आत्मा की शक्ति अपरिगणनीय है ॥१०॥

विवेचन—आत्मा के साथ अनादि कालीन कर्म प्रवाह के कारण सूक्ष्म कार्माण शरीर रहता है, जिससे यह शरीर में आबद्ध दिखलायी पडता है। मन, वचन और काय की क्रिया के कारण कषाय—राग, द्वेष, क्रोध, मान आदि भावों के निमित्त से कर्मपरमाणु आत्मा के साथ बधते है। योग शक्ति जैसी तीव्र या मन्द होती है वैसी ही सख्या में कम या अधिक कर्मपरमाणु आत्मा की ओर खिंच कर आते है। जब योग उत्कृष्ट रहता है उस समय कर्मपरमाणु अधिक तादाद में और जब योग जघन्य होता है, उस समय कर्मपरमाणु कम तादाद में जीव की ओर आते है। इसी प्रकार तीव्र कषाय के होने पर कर्मपरमाणु अधिक समय तक आत्मा के साथ रहते है तथा तीव्र फल देते हैं। मन्द कषाय के होने पर कम समय तक रहते हैं और मन्द ही फल देते हैं ।

योग और कषाय के निमित्त से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये आठ कर्म बन्धते है तथा इनका समुदाय कार्माण शरीर कहलाता है। ज्ञानावरण कर्म जीव के ज्ञान गुण को घातता है, इसी वजह से जीवों के ज्ञान में तारतम्यता देखी जाती है; कोई विशेष ज्ञानी होता है तो कोई अल्पज्ञानी। दर्शनावरण जीव के दर्शन गुण को प्रकट होने में रुकावट डालता है। क्षयोपशम से जीव में दर्शन गुण की तारतम्यता देखी जाती है। वेदनीय के उदय से जीव को सुख और दुःख का अनुभव होता है; मोहनीय के उदय से जीव मोहित होता है, इसके दो भेद है—दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय।

दर्शन मोहनीय क उदय से जीव को सच्चे मार्ग की प्रतीति नहीं होती है, उसे आत्मकल्याणकारी मार्ग दिखलायी नहीं पड़ता है। यही आत्मा के सम्यग्दर्शन गुण को रोकता है आत्मा और उसमें मिले कर्मों के स्वरूप की दृढ़ आस्था जीव में यही कर्म नहीं होने देता है। चारित्र मोहनीय का उदय जीव को कल्याणकारी मार्ग पर चलने मे रुकावट डालता है। दर्शन मोहनीय के उपशम या क्षय होने पर जीव को सच्चे मार्ग का भान भी हो जाय तो भी यह कर्म उसको उस मार्ग का अनुसरण करने में बाधक बनता है।

आयु कर्म जीव को किसी निश्चित समय तक मनुष्य, तिर्यञ्च देव और नारकी के शरीर में रोके रहता है। उसके समाप्त या बीच में छिन्न हो जाने से जीव को मृत्यु कही जाती है। नाम कर्म के निमित्त से जीव के अच्छा या बुरा शरीर तथा छोटे-बडे सम-विषम, सूक्ष्म-स्थूल, हीनाधिक आदि नाना प्रकार के अंगोपांग की रचना होती है। गोत्र कर्म के निमित्त से जीव उच्च या नीच कुल में पैदा हुआ कहा जाता है। अन्तराय के कारण इस जीव को इच्छित वस्तु की प्राप्ति में बाधा आती है। इस प्रकार इन आठों कर्मों के कारण जीव शरीर धारण करता है, इस शरीर में किसी निश्चित समय तक रहता है, सुख या दुख का अनुभव भी करता है। इसे अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति में नाना प्रकार की रुकावटें भी आती है। संसार में इस तरह कर्मों का ही नाटक होता रहता है।

पुरुषार्थी साधक इस कर्म लीला से बचने के लिये अपनी साधना द्वारा उदय मे आने के पहले ही कर्मों को नष्ट कर देते हैं। इस कर्म प्रक्रिया के अवलोकन से यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि इस ससार का रचयिता कोई नहीं है, किन्तु स्वभावा-नुसार ससार के सारे पदार्थ बनते और बिगड़ते रहते है।

जैनागम मे मूलतः कर्म के दो भेद बताये है—द्रव्य और भाव। मोह के निमित से जीव के राग, द्वेष, क्रोधादि रूप जो

परिणाम होते हैं, वे भावकर्म तथा इन भावों के निमित्त से जो कर्मरूप परिणमन करने की शक्ति रखनेवाले पुद्गल परमाणु खिंचकर आत्मा से चिपट जाते है वे द्रव्यकर्म कहलाते है। भावकर्म और द्रव्यकर्म इन दोनों में कार्य-कारण सम्बन्ध है। द्रव्यकर्मों के निमित्त से भावकर्म और भावकर्मों के निमित्त से द्रव्यकर्म बधते है। द्रव्यकम के मूल ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि आठ भेद है। उत्तर भेद ज्ञानावरण के पॉच, दर्शनावरण के नौ, वेदनीय के दो, मोहनीय के अट्ठाईस, आयु के चार, नाम के तिरानवे, गोत्र के दो और अन्तराय के पॉच भेद है। उपर्युक्त आठ कर्मों के भी घातिया और अघातिया ये दो भेद है।

घातिया कर्मों के भी दो भेद है —सर्वघाती और देशघाती। जो जीव के गुणों का पूरी तरह से घात करते है, उन्हें सर्वघाती और जो कर्म एक देश घात करते है, उन्हें देशघाती कहते है। ज्ञानावरण की ५ प्रकृतियॉ, दर्शनावरण की ९ प्रकृतियॉ, मोहनीय की २८ प्रकृतियॉ और अन्तराय की ५ प्रकृतियॉ इस प्रकार कुल ४७ प्रकृतियाँ घातिया कर्मों की हैं। इनमें से २६ देशघाती और २१ सर्वघाती कहलाती है। घातिया कर्म पाप कर्म माने गये है। इन कर्मों का फल सर्वदा जीव के लिये अकल्याणकारी ही होता है। इनके कारण जीव सदा उत्तरोत्तर

कर्मबन्ध को करता ही रहता है। अघातिया कर्मों में पुण्य और पाप दोनों ही प्रकार की प्रकृतियाँ होती है।

जीव की ओर आकृष्ट होनेवाले कर्म परमाणुओं में प्रारंभ से लेकर अन्त तक मुख्य दश क्रियाएँ—अवस्थाएँ होतीं है। इनके नाम बन्ध, उत्कर्षण, अपकर्षण, सत्ता, उदय, उदीरणा संक्रमण, निधत्ति और निकाचना है।

बन्ध—जीव के साथ कर्म परमाणुओं का सम्बद्ध होना बन्ध है। इसके प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग ये चार भेद है। यह सब से पहली अवस्था है, इसके बिना अन्य कोई अवस्था कर्मों में नहीं हो सकती है।

इस प्रथम अवस्था मे कर्म बन्ध होने के पश्चात् योग और कषाय के कारण चार बातें होती है। प्रथम ज्ञान, सुख आदि के घातने का स्वभाव पडता है, द्वितीय स्थिति—काल मर्यादा पडती है कि कितने समय तक कर्म जीव के साथ रहेगा। तृतीय कर्मों में फल देने की शक्ति पडती है और चतुर्थ वे नियत तादाद में ही जीव से सम्बद्ध रहते है। इन चारों के नाम क्रमशः प्रकृति-बन्ध—स्वभाव पड़ना, स्थितिबन्ध—काल मर्यादा का पड़ना, अनुभागबन्ध—फलदान शक्ति का होना और प्रदेशबन्ध—नियत परिमाण में रहना है। अनुभागबन्ध की अपेक्षा कर्मों में अनेक

विशेषताएँ होती है। कुछ कर्म ऐसे है जिनका फल जीव में होता है, कुछ का फल—विपाक शरीर में होता है और कुछ का इन दोनों में। कुछ कर्म ऐसे भी होते है जिनका फल किसी विशेष जन्म में मिलता है, तथा कुछ का किसी क्षेत्र विशेष मे विपाक—फल होता है। इस दृष्टि से जीव विपाकी, शरीर विपाकी, भव विपाकी और क्षेत्रविपाकी ये चार भेद कर्मों के है।

उत्कर्षण—आरम्भ में कर्मों में पड़ी स्थिति—समय मर्यादा और अनुभाग —फलदान शक्ति के बढ़ने को उत्कर्षण कहते है। जीव अपने पुरुषार्थ के कारण कितनी ही बन्धी कर्म प्रकृतियों की स्थिति और फलदान शक्ति को बढा लेता है।

अपकर्षण—पुरुषार्थ द्वारा कर्मों की स्थिति और फलदान शक्ति को घटाना अपकर्षण है। यदि कोई जीव अशुभ कर्म बाध कर शुभ कर्म करता है तो उसके बन्धे हुई अशुभ कर्म की स्थिति और फलदानशक्ति कम हो जाती है, इसी का नाम अपकर्षण है। जब यही जीव उत्तरोत्तर अशुभ कर्म करता रहता है तो उसके बन्धे हुए अशुभ कर्म की स्थिति और फलदान शक्ति बढ जाती है। अभिप्राय यह है कि उत्कर्षण और अपकर्षण इन दो क्रियाओं के द्वारा किसी भी बुरे या अच्छे कर्म की स्थिति और फलदान शक्ति घटायी या बढ़ायी जा सकती है।

कोई जीव किसी बुरे कर्म का बन्ध कर ले, तो वह अपने शुभ कर्मों द्वारा उस बुरे कर्म के फल और मर्यादा को घटा सकता है। और बुरे कर्मों का वन्ध कर उत्तरोत्तर कलुषित परिणाम करता जाय तो बुरे भावों का असर पाकर पहले बन्धे हुए बुरे कर्म की स्थिति और फलदान शक्ति और बढ़ जायगी। कर्मों की इन क्रियाओ के कारण किसी बड़े से बड़े पाप या पुण्य कर्म के फल को कम या ज्यादा मात्रा में शीघ्र अथवा देरी में भोगा जा सकता है।

सत्ता—कर्म बंधते ही फल नहीं देते। कुछ समय पश्चात् फल उत्पन्न करते हैं, इसीका नाम सत्ता है। जैनागम में इस फल मिलनें के काल का नाम आबाधा काल बताया गया है। इस काल का प्रमाण कर्मों की स्थिति—समय मर्यादा पर आश्रित है। जिस प्रकार शराव पीते ही तुरन्त नशा उत्पन्न नहीं करती है, किन्तु कुछ समय बाद नशा लाती है उसी प्रकार कर्म भी बन्धते ही तुरन्त फल नहीं देते है, किन्तु कुछ समय पश्चात् फल देते हैं। इस काल को सत्ता या आबाधा काल कहते है।

उदय—विपाक या फल देने की अवस्था का नाम उदय है। इसके दो भेद है—फलोदय और प्रदेशोदय। जब कोई भी कर्म अपना फल देकर नष्ट होता है तो उसका फलोदय और

उदय होकर भी बिना फल दिये नष्ट होता है, तो उसका प्रदेशोदय कहलाता है।

उदीरणा—पुरुषार्थ द्वारा नियत समय से पहले ही कर्म का विपाक हो जाना उदीरणा है। जैसे आमों के रखवाले आमों को पकने के पहले ही तोडकर पाल में रखकर जल्दी पका लेते है, उसी प्रकार तपश्चर्या आदि के द्वारा असमय में ही कर्मों का विपाक कर देना उदीरणा है। उदीरणा में पहले अपकर्षण क्रिया द्वारा कर्म की स्थिति को कम कर दिया जाता है, जिससे स्थिति के घट जाने पर कर्म नियत समय के पहले ही उदय में आता है।

संक्रमण—एक कर्म प्रकृति का दूसरी सजातीय कर्म प्रकृति के रूप में बदल जाना संक्रमण है। कर्म की मूल प्रकृतियों में संक्रमण नहीं होता है; ज्ञानावरण कभी दर्शनावरण के रूप में नहीं बदलता और न दर्शनावरण कभी ज्ञानावरण के रूप में। संक्रमण कर्मों की अवान्तर प्रकृतियों में ही होता है। पुरुषार्थ द्वारा कोई भी व्यक्ति असाता को साता के रूप में बदल सकता है। आयु कर्म की अवान्तर प्रकृतियों में भी संक्रमण नहीं होता है।

उपशम—कर्म प्रकृति को उदय में आने के अयोग्य कर देना उपशम है। इस अवस्था में बद्ध कर्म सत्ता में रहता है, उदित नहीं होता।

निधति—कर्म में ऐसी क्रिया का होना जिससे वह उदय और संक्रमण को प्राप्त न हो सके निधति है।

निकाचना—कर्म में ऐसी क्रिया का होना, जिससे उसमें उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण और उदय ये अवस्थाएँ न हो सकें, निकाचना है। इस अवस्था में कर्म अपनी सत्ता में रहता है तथा अपना फल अवश्य देता है।

इस प्रकार कर्मों के कारण आत्मा इस शरीर में बद्ध रहता है यह स्वयं कर्मों का कर्ता और उनके फल का भोक्ता है। अन्य कोई ईश्वर कर्म फल नहीं देता है। जब इसे तत्त्वों के चिन्तन से शरीर की अपवित्रता का ज्ञान हो जाता है तो यह अपने स्वरूप को समझ कर अपना हित साधन कर लेता है। जो शरीर के अनित्य और अशुचि स्वरूप का चिन्तन करता है, वह विरक्ति पाकर आत्मा की निजी परिणति को प्राप्त हो जाता है। वास्तव में यह शरीर हाड, मास, रुधिर, पीव, मल और मूत्र आदि निन्द्य पदार्थों का समुदाय है। नाना प्रकार के रोग इसे घेरे रहते हैं। यदि कुछ दिन इसे अन्न-पानी न मिले

तो इसकी स्थिति नहीं रह सकेगी। शीत, आतप आदि की बाधा भी यह नहीं सह सकता है।

इस अपवित्र शरीर को यदि समुद्र के जल से स्वच्छ किया जाय तो भी यह शुद्ध नहीं हो सकता है। समुद्र का जल समाप्त हो जायगा पर इसकी गन्दगी दूर न हो सकेगी। कविवर भूधरदास ने शरीर के स्वरूप का वर्णन करते हुए बताया है—

मात-पिता रज वीरज सों उपजी सब सात कुधात भरी है।
माखिन के पर माफिक बाहर चामके बेठन बेढ़ धरी है॥
नाहिं तो आय लगे अब ही बक वायस जीव बचैं न घरी है।
देह दशा यहि दीखत भ्रात घिनात नहीं किन बुद्धि हरी है॥

अर्थ—यह शरीर माता के रज और पिता के वीर्य से मिलकर बना है, इसमें अस्थि, मास, मज्जा, मेद आदि भरे हुए है। मक्खियों के पंख जैसा बारीक चमडा चारों ओर से लपेटा हुआ है, अन्यथा बिना चमडे के मास पिण्ड को क्या कौवे छोड़ देते? कभी के खा जाते। शरीर की इस घिनौनी दशा को देखकर भी मनुष्य इससे विरत नहीं होता है, पता नहीं उसकी बुद्धि किसने हर ली है?

यह शरीर ऐसा अपवित्र है कि इसके स्पर्श से कोई भी सुगन्धित और पवित्र वस्तु अपवित्र हो जाती है। इस बात की

पुष्टि के लिये शास्त्रों में एक उदाहरण आता है, जिसे उद्धृत कर उक्त विषय का स्पष्टीकरण करने की चेष्टा की जाती है।

एक दिन एक श्रद्धालु शिष्य गुरु के पास दीक्षा ग्रहण के लिये आया। गुरुने उससे कहा कि मैं आपको दीक्षा दूँगा, जब आप संसार की सबसे अपवित्र वस्तु ले आयेंगे। शिष्य गुरु के आदेश को ग्रहण कर अपवित्र वस्तुओं की खोज में चला। उसने अपने इस कार्य के लिये एक मित्र से सहायता ली। सर्व प्रथम वे दोनों बाजार में जहाँ शराब और मांस बिकते थे, गये; पर वे वस्तुएँ भी उन्हें अपवित्र न जँची। खरीदनेवाले उन्हें खरीद खरीद कर अपने घर ले जा रहे थे।

से ही दिव्य पदार्थ भी अस्पृश्य हो गये है तो फिर इस शरीर से बड़ा अपवित्र और निन्ध कौन हो सकता है ? यह मल अपवित्र नहीं, बल्कि अपवित्र यह शरीर है, जिसके संयोग से दिव्य पदार्थों की यह अवस्था हो गयी है ?

इस प्रकार बड़ी देर तक सोच-विचार कर वह मल को छोड़कर गुरु के पास खाली हाथ आया और नत मस्तक हो बोला— गुरुदेव, इस ससार में इस शरीर से अपवित्र और निन्द्य कोई वस्तु नहीं। मैने अनुभव से इस बात को हृदयगम कर लिया है, अतः अब शुद्ध और पवित्र बनानेवाली दीक्षा दीजिये। गुरु ने प्रसन्न होकर कहा कि अब तुम दीक्षा के अधिकारी हो, अतः मै दीक्षा दूँगा।

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि शरीर के स्वरूप चिन्तन से बोधवृत्ति जाग्रत होती है, अतएव इसके वास्तविक रूप का विचार करना चाहिये।

बूरं वारियोळळदियूर्ध्वगमनंगेट्टुर्वियोळ्बिळ्दु दू-
ळ्वारै सल्सुळिगाळियिंदुरुळ्ववोल्कर्मंगळिं नांदु मे ॥
यूभारंदाळ्दुरे कर्ममोय्द्देडेगे सुत्तित्तिर्पनंतल्लदा-
नारी संसृतियारो मोक्षकने नां रत्नाकराधीश्वरा ! ॥११॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

कपास को पानी में डुबा देने से उस की ऊपर उठनेवाली शक्ति नष्ट हो जाती है। कपास हवा के साथ ऊपर उठने का प्रयत्न करता है पर होता यह है कि उस पर धूल आकर और जम जाती है। इसी प्रकार योग-कषायों के कारण यह आत्मा विकृत हो कर्मरूपी धूल को ग्रहण कर भारी हो जाता है, जिससे शरीर प्राप्त कर नीचे की ओर दबता चला जाता है। भावार्थ यह है कि शुद्ध, बुद्ध और निष्कलंक आत्मा में वैभाविक शक्ति के परिणमन के कारण योग-कषाय रूप प्रवृत्ति होती है, जिस से द्रव्य कर्म ज्ञान वरणादि और नोकर्म शरीर की प्राप्ति होती है। यह शरीर पुनः ससार परिवर्तन का कारण बन जाता है अत इस परिवर्तन को दूर करने के लिये सोचना चाहिये कि मै कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ और यह संसार क्या है? क्या इस प्रकार मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती? ॥११॥

विवेचन——प्रत्येक व्यक्ति को प्रातः या सायंकाल एकान्त में बैठकर अपने सन्बन्ध में विचार करना चाहिये कि मैं कौन हूँ? मेरा क्या कर्त्तव्य है? यह ससार क्या है? मुझे जन्म-मरण के दुःख क्यों उठाने पड रहे है? इस प्रकार विचार करने से व्यक्ति को अपना यथार्थ रूप ज्ञात हो जाता है। वह कर्मों से उत्पन्न विकार और विभाव को अच्छी तरह जान लेता है। शास्त्रों में ससार की चार प्रकार की उपमाएं बतायी गयी है, जिनके स्वरूप चिन्तन द्वारा कोई भी व्यक्ति सज्ज्ञान लाभ कर सकता है।

पहली उपमा ससार की समुद्र के समान बतायी है। जैसे समुद्र में लहरें उठती है, वैसे ही विषय वासना की लहरें उत्पन्न होती हैं। समुद्र जैसे ऊपर से सपाट दिखलायी पडता है, पर कही गहरा होता है और कहीं अपने भँवरों में डाल देता है उसी प्रकार ससार भी ऊपर से सरल दिखलायी पडता है, पर नाना प्रकार के प्रपंचों के कारण गहरा है, और मोहरूपी भँवरों में फसाने वाला है। इस संसार में समुद्र की बडवाग्नि के समान माया तथा तृष्णा की ज्वाला जला करती है,जिसमे संसारी जीव अहर्निश झुलसते रहते है।

ससार की दूसरी उपमा अग्नि के समान बतायी है, जैसे अग्नि ताप उत्पन्न करती है, आग से जलने पर जीव को बिल-बिलाहट होती है उसी प्रकार यह संसार भी जीव को त्रिविधि—दैहिक, दैविक, भौतिक ताप उत्पन्न करता है तथा ससारिक तृष्णा से दग्ध जीव कभी भी शान्ति और विश्राम नहीं पाता है। अग्नि जैसे ईंधन डालने से उत्तरोत्तर प्रज्वलित होती है उसी प्रकार अधिकाधिक परिग्रह बढाने से सांसारिक लालसाएँ बढती चली जाती है। पानी डालने से जिस प्रकार आग शान्त हो जाती है, उसी प्रकार सन्तोष या आत्म-चिन्तन रूपी जल से संसार के संताप दूर हो जाते है।

अनित्य भावना—शरीर, वैभव, कुटुम्ब, लक्ष्मी, महल-मकान, परिवार, मित्र, हितैषी सब विनाशीक हैं। जीव सदा अविनाशी है, इसका स्वभावतः इन पदार्थों से कोई सम्बन्ध नहीं। इस प्रकार संसार की अनित्यता का चिन्तन करना, अनित्य भावना है।

अशरण भावना—जब मृत्यु आती है तो जीव को कोई नहीं बचा सकता है। केवल एक धर्म ही इस जीव को शरण दे सकता है। कविवर दौलतरामजी ने इस भावना का सुन्दर निरूपण किया है—

सुर-असुर खगाधिप जेते। मृग ज्यों हरि काल दले ते।
मणि मंत्र तंत्र बहु होई। मरते न बचावै कोई॥

अर्थ—इन्द्र, नागेन्द्र, विद्याधर, चक्रवर्ती, आदि सभी मृत्यु रूपी सिंह के मुँह में हरिण के समान असहाय हो जाते हैं। मणि, मंत्र, तंत्र, अमोघ औषध तथा नाना प्रकार के क्रियोपचार मृत्यु आने पर रक्षा नहीं कर सकते हैं। इस प्रकार का बार-बार चिन्तन करना अशरण भावना है। अभिप्राय यह है कि बार-बार यह विचारना कि इस जीव को मृत्यु-दुःख से कोई नहीं बचा सकता है। वह स्वयं दुःख का भोगनेवाला अकेला ही है।

संसार भावना—द्रव्य और भावकर्मों के कारण आत्मा ने इस संसार में चौरासी लाख योनियों में भ्रमण किया है। ससार रूपी शृंखला से कब मै छूटूँगा। यह ससार मेरा नहीं, मै मोक्ष स्वरूप हू। इस प्रकार चिन्तन करना ससार भावना है। आचार्य शुभचन्द्र ने इस भावना का वर्णन करते हुए बताया है—

श्वभ्रे शूलकुठारयन्त्रदहनक्षारक्षुर व्याहतैः
तिर्यक्षु श्रमदुःखपावकशिखासंसारभस्मीकृतैः।
मानुष्येऽप्यतुलप्रयासवशगैर्देवेषु रागोद्धतैः
संसारेऽत्रदुरन्तदुर्गमातिमये वम्भ्रम्यते प्राणिभिः॥

अर्थ—इस दुर्गतिमय ससार में जीव निरन्तर भ्रमण करते है। नरकों में तो ये शूली, कुल्हाडी, घानी, अग्नि, क्षार, जल, छूरा, कटारी आदि से पीडा को प्राप्त हुए नाना प्रकार के दुःखों को भोगते है और तिर्यञ्च गति में भूख, प्यास, उष्ण आदि की बाधाओ को सहते हुए अग्नि की शिखा के भार से भस्मरूप खेद और दुःख पाते है। मनुष्य गति में अतुल्य खेद के वशीभूत होकर नाना प्रकार के दुःख भोगते है। इसी प्रकार देव गति में राग भाव से उद्धत होकर कष्ट सहते है।

तात्पर्य यह है कि संसार का कारण अज्ञान है। अज्ञान भाव से परद्रव्यों मे मोह तथा राग-द्वेष की प्रवृत्ति होती है, इससे

कर्म बन्ध होता है और कर्म बन्ध का फल चारों गतियों में भ्रमण करना है। इस प्रकार अज्ञान भाव जन्य संसार का स्वरूप बार-बार विचारना संसार भावना है।

एकत्व *भावना*----यह मेरा आत्मा अकेला है, यह अकेला आया है, अकेला ही जायेगा और किये कर्मों का फल अकेला ही भोगेगा। इसके सुख, दुःख को बाटने वाला कोई नहीं है। कहा भी है—

एकः श्वाभ्र भवति विबुधः स्त्रीमुखाम्भोज भृङ्गः

एकः श्वाभ्रं पिबाति कालिकं छिद्यमानः कृपाणैः

एकः क्रोधाद्यनलकलितः कर्म बध्नाति विद्वान्

एकः सर्वावरणविगमे ज्ञानराज्यं भुनक्ति ॥

अर्थ----यह आत्मा आप अकेला ही देवागना के मुखरूपी कमल की सुगन्धि लेने वाले भ्रमर के समान स्वर्ग का देव होता है और अकेला आप ही तलवार, छुरी आदि से छिन्न भिन्न किया हुआ नरक सम्बन्धी रुधिर को पीता है तथा अकेला ही क्रोधादि कषाय रहित होकर कर्मों को बाधता है और अकेला ही ज्ञानी, विद्वान्, पंडित होकर समस्त कर्म रूप आवरण के अभाव होने पर ज्ञानरूपी राज्य को भोगता है।

कर्मजन्य संसार की अनेक अवस्थाओं को यह आत्मा अकेला ही भोगता है, इसका दूसरा कोई साथी नहीं; इस प्रकार बार-बार सोचना एकत्व भावना है।

अन्यत्वभावना——यह आत्मा परपदार्थों को अपना मान कर ससार में भ्रमण करता है जब उन्हें अपने से भिन्न समझ अपने चैतन्य भाव में लीन हो जाता है तो इसे मुक्ति मिल जाती है। अभिप्राय यह है कि इस लोक में समस्त द्रव्य अपनी अपनी सत्ता को लिये भिन्न भिन्न है। कोई किसी में मिलता नहीं है किन्तु परस्पर में निमित्त नैमित्तिक भाव से कुछ कार्य होता है, उसके भ्रम से यह जीव परपदार्थों में अहभाव और ममत्व करता है। जब इस जीव को अपन स्वरूप के पृथक्त्व का प्रतिभास हो जाता है तो अहकार भाव निकल जाता है। अतः बार बार समस्त द्रव्यों से अपने को भिन्न भिन्न चिन्तवन करना अन्यत्व भावना है।

अशुचि भावना——यह शरीर अपवित्र है, मल-मूत्र की खान है, रोगों का घर है, वृद्धावस्था जन्य कष्ट भी इसे होता है, मै इससे भिन्न हूॅ, इस प्रकार चिन्तवन करना अशुचि भावना है। आत्मा निर्मल है यह सर्वदा कर्ममल से रहित है, परन्तु अशुद्ध अवस्था के कारण कर्मों के निमित्त से शरीर का सम्बन्ध होता है। यह शरीर अपवित्रता का घर है, इस प्रकार बार बार सोचना

अशुचि भावना है।

आस्रव भावना——राग, द्वेष, अज्ञान, मिथ्यात्व आदि आस्रव के कारण है। यद्यपि शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा आत्मा आस्रव रहित केवल ज्ञान स्वरूप है, तो भी अनादि कर्म के सम्बन्ध से मिथ्यात्वादि परिणाम स्वरूप परिणत होता है, इसी परिणति के कारण कर्मों का आस्रव होता है। जब जीव कर्मों का आस्रव कर भी ध्यानस्थ हो अपने को सब भावों से रहित विचारता है तो आस्रव भाव से रहित हो जाता है। आचार्य शुभचन्द्र ने आस्रव भावना का वर्णन करते हुए बताया है:—

कषायाः क्रोधाद्याः स्मरसहचराः पञ्चविषयाः
प्रमादा मिथ्यात्वं वचनमनसी काय इति च ॥
दुरन्ते दुर्ध्याने विरतिविरहश्चेति नियतम् ।
स्रवन्त्ये पुंसां दुरित पटलं जन्मभयदम् ॥

अर्थ——प्रथम तो मिथ्यात्वरूप परिणाम, दूसरे क्रोधादि कषाय, तीसरे काम के सहचारी पञ्चेन्द्रिय के विषय चौथे प्रमाद विकथा, पांचवे मन-वचन-कायरूप छठे व्रत रहित अविरति रूप परिणाम और सातवें आर्त, रौद्रध्यान ये सब परिणाम नियम से पाप रूप आस्रव को करनेवाले हैं। यह पापास्रव अत्यन्त

धर्म भावना---धर्मोपदेश ही कल्याणकारी है, इसका मिलना कठिन है, ऐसा विचारना धर्म भावना है अथवा आत्मधर्म का चिन्तन करना धर्म भावना है।

तनुवे स्फाटिक पात्रेयिद्रियद मोत्तं ताने सद्वर्ति जी-
वनवे ज्योतियदर्के पज्जळिसुगा सुज्ञानमे रस्मियि ॥
तिनितुं कूडिदोडेनो रस्मियोदविगे देव ! निन्नेन्न चि-
तनेगळ्नोडे घृतंबोलेरणे वोलला ! रत्नाकराधीश्वरा ! ॥१२॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

इस शरीर की उपमा दीपक से दी जा सकती है। इन्द्रियाँ इस दीपक की बत्ती हैं और सम्यग्दर्शन इस दीपक की लौ। इस दीपक का प्रयोजन क्या प्रकाश करना—भेद-विज्ञान की दृष्टि प्राप्त करना नहीं है? क्या इस प्रकार का मेरा चिन्तन दीपक के स्नेह (तेल या घी) के समान नहीं है? ॥१२॥

विवेचन---तत्त्व चिन्तन द्वारा भेदविज्ञान की दृष्टि उपलब्ध होती है। इस दृष्टि की प्राप्ति का प्रधान कारण रत्नत्रय है, यही रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र वास्तविक धर्म है। वस्तुतः पुण्य-पाप को धर्म, अधर्म नहीं कहा जा सकता है। मोह के मन्द होने से जीव जिनपूजन, गुरुभक्ति, एवं स्वाध्याय आदि में प्रवृत्त होता है, इससे पुण्यास्रव होता है; पर

ये वास्तविक धर्म नहीं हैं। क्योंकि सभी प्रकार का राग अधर्म है; चाहे शुभ राग हो या अशुभ राग कर्मबन्ध ही करेगा। तथा राग परणति भी हेय है।

परसम्बन्ध और क्षणिक पुण्य-पाप के भाव से रहित अक्षय सुख के भाण्डार आत्मा की प्रतीनि करना ही धर्म है। धर्मात्मा या ज्ञानी जीव को पराश्रय रहित अपने स्वाधीन स्वभाव की पहले प्रतीति करनी होती है, पश्चात् जैसा स्वभाव है उस रूप होने के लिये अपने स्वभाव में देखना होता है। यदि कोई शुभाशुभ भाव आजाय तो उसे अपना अधर्म समझ छोडना चाहिये। परवस्तु और देहादि की क्रियाएँ सब पररूप है, ये आत्मरूप नहीं हो सकतीं। पुण्य-पाप का अनुभव दु'ख है, आकुलता है, क्षणिक विकार है। आत्मा का धर्म सर्वदा अविकारी है, धर्मरूप होने के लिये आत्मा को पर की आवश्यकता नहीं। पर से भिन्न अपने स्वभाव की श्रद्धा न होने से धर्मात्मा स्वय ही ज्ञानरूप में परिणत होता है, उसे कोई भी संयोग अधर्मात्मा या अज्ञानी नहीं बना सकता है।

जैसे पुद्गल की स्वर्णरूप अवस्था का स्वभाव कीचड आदि पर पदार्थों के सयोग होने पर भी मलिन नहीं होता, उसी प्रकार आत्मा का धर्म ज्ञान, बल, दर्शन और सुखरूप है, क्षणिक राग

इसका धर्म कभी नहीं हो सकता। जब जीव अपने को सुखी और स्वाधीन समझ लेता है और पर में सुख की मान्यता को त्याग देता है तो उसकी धर्मरूप परणति हो जाती है। जीव जब पापभाव को छोडकर पुण्यभाव करता है तो रागरूप परिणति ही होती है, जिससे कर्मबन्ध के सिवा और कुछ नहीं होता। भले ही पुण्योदय से देव, चक्रवर्ती हो जाय, किन्तु स्वस्वभाव से च्युत होने के कारण अधर्मात्मा ही माना जायगा।

जबतक जीव अपने को पराश्रय और विकारी मानता है तबतक उसकी दृष्टि पुण्य-पाप की ओर रहती है, पर जब त्रिकाल असंग स्वभाव की प्रतीति करता है तो विकार का क्षय हो जाता है और ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा आभासित होने लगता है। पर द्रव्यों से राग करना, उनके साथ अपना संयोग मानना दुःखरूप है और दुःख कभी भी आत्मा का धर्म नहीं हो सकता है।

यह भी सत्य है कि आत्मा को किसी बाह्य सयोग से सुख नहीं मिल सकता है। यदि इसका सुख परवस्तु जन्य माना जायगा तो सुख संयोगी वस्तु हो जायगा, पर यह तो आत्मा का स्वभाव है, किसीके संयोग से उत्पन्न नहीं होता। पर पदार्थों के सयोग से सुख की निष्पत्ति आत्मा में मानी जाय तो नाना प्रकार की बाधाएँ आयेंगी। एक वस्तु जो एक समय में सुख-

कारक है, वही वस्तु दूसरे समय में दुःखोत्पादक कैसे हो जाती है ? पर संयोग से उत्पन्न सुखाभास दुःखरूप ही है। खाने, पीने, सोने, गप्प करने, सैर करने, सिनेमा देखने, नाच-गाना देखने एवं स्त्री-सहवास आदि से जो सुखोत्पत्ति मानी जाती है, वह वस्तुतः दुःख है। जैसे शराबी नशे के कारण कुत्ते के मूत्र को भी शरबत समझता है, उसी प्रकार मोही जीव भ्रमवश दुःख को सुख मानता है। प्रवचनसार में कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है—

सपरं बाधासहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं ।
जं इंदिएहि लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तधा ॥

अर्थ—जो इन्द्रियों से होनेवाला सुख है, वह पराधीन है, बाधा सहित है, नाश होनेवाला है, पापबन्ध का कारण है तथा चंचल है, इसलिये दुःखरूप है।

आत्मिक सुख अक्षय, अनुपम, स्वाधीन, जरा-रोग-मरण आदि से रहित होता है। इसकी प्राप्ति किसी अन्य वस्तु के संयोग से नहीं होती है। यह तो त्रिकाल में ज्ञानानन्दरूप पूर्ण सामर्थ्यवान् है। अज्ञानता के कारण जीव की दृष्टि जबतक संयोग पर है, दुःख को सुख समझता है; किन्तु जिस क्षण पराश्रित विकारभाव हट जाता है, सुखी हो जाता है। यह सुख कहीं बाहर से नहीं आता, बल्कि उसके स्वरूप स्थित सुख का अक्षय भण्डार खुल जाता है।

जीव का सबसे बड़ा अपराध है आत्मा से भिन्न सुख को मानना, इस अपराध का दण्ड है संसाररूपी जेल। जीव में जब यह श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है कि 'मेरा सुख मुझ में है; ज्ञान, दर्शन, चारित्र भी मुझ में ही है, मेरा स्वरूप सर्वदा निर्मल है, तो वह सम्यग्दृष्टि माना जाता है। पर से भिन्न अपने स्वतन्त्ररूप को जानलेने पर जीव सम्यग्ज्ञानी और पर से भिन्न स्वरूप में रमण करने पर सम्यक् चारित्रवान् कहा जाता है। अतएव आध्यात्मिक शास्त्रों के अनुसार स्वतन्त्र स्वरूप का निश्चय, उसका ज्ञान, उसमें लीन होना और उससे विरुद्ध इच्छा का त्यागना ये चार आत्म-प्राप्ति की आराधनाएँ है और निर्दोष ज्ञानस्वरूप में लीन होना आत्मा का व्यापार है।

तात्पर्य यह है कि आत्मा सामान्य, विशेषस्वरूप है, अनादि, अनन्तज्ञान स्वरूप है। इस सामान्य की समय-समय पर जो पर्यायें होती है, वे विशेष है। सामान्य ध्रौव्य रहकर विशेषरूप में परिणमन करता है। यदि पुरुषार्थी जीव विशेष पर्याय में अपने स्वरूप को रुचि करे तो विशेष शुद्ध और विपरीत रुचि करे कि 'जो रागादि, दोषादि है, वह मैं हूँ' तो विशेष अशुद्ध होता है। भेदविज्ञानी जीव क्रमबद्ध होनेवाली पर्यायों में राग नहीं करता, अपने स्वरूप की रुचि करता है। सभी द्रव्यों की

अवस्थाएँ क्रमानुसार होती है, जीव उन्हें जानता है पर करता कुछ नहीं है। जब जीव को अपने स्वरूप का पूर्ण निश्चय हो जाता है, अपने ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव को जान लेता है तो अपनी ओर झुक जाता है। निमित्त या सहकारी कारण इस आत्मा को अपने विकास के लिये निरन्तर मिलते रहते है। अत: भेद-विज्ञान की ओर अवश्य प्रवृत्त होना चाहिये।

तनुवें ताम्र निवासमो मळल वेट्टोळ्तोडि वीडं वरु-
ळ्मनमोल्दिर्प व्रोलिंदो नाळेयो तोडके नाळ्दिो ईगळो ॥
घन दोड्डेंववोलोड्डियोड्डळिवमेय्योळ्मोसा वेकिर्दपै।
नेनेदिर्जीवने मेलेनेंदरुपिदै! रत्नाकराधीश्वरा! ॥१३॥

हे रत्नाकराधीश्वर!

यह शरीर क्या ताम्बे के द्वारा निर्मित घर है? बालू के पहाड़ पर मकान बनाकर यदि कोई मनुष्य उस मकान से ममता करे तो उसका यह पागलपन होगा। इसी प्रकार नाश होनेवाले बादलों के समान इस क्षणभगुर शरीर पर मोहग्रस्त जीव क्यों प्रेम करता है? मोह को छोड कर जीव आत्म तत्त्व का चिन्तन करे, हे प्रभो! आपने ऐसा समझाया ॥१३॥

विवेचन——इस संसारी प्राणी ने अपने स्वभाव को भूलकर पर पदार्थों को अपना समझ लिया है, इसमे यह स्त्री, पुत्र, धन, दौलत और शरीर से प्रेम करता है, उन्हें अपना समझता है।

जब मोह का पर्दा दूर हो जाता है, स्वरूप का प्रतिभास होने लगता है तो शरीर पर से आस्था इसकी उठ जाती है। मोह के कारण ही सारे पदार्थों में ममत्व बुद्धि दिखलायी पडती है।

जैन दर्शन में वस्तु विचार के दो प्रकार बताये गये है—प्रमाणात्मक और नयात्मक। नयात्मक विचार के भी द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो भेद है। पदार्थ के सामान्य और विशेष इन दोनों अशों को या अविरोध रूप से रहनेवाले अनेक धर्मयुक्त पदार्थ को समग्ररूप से जानना प्रमाण ज्ञान है। यह वही है, ऐसी प्रतीति सामान्य और प्रतिक्षण में परिवर्तित होनेवाली पर्यायों की प्रतीति विशेष कहलाती है। सामान्य ध्रौव्य रूप में सर्वदा रहता है और विशेष पर्याय रूप में दिखलायी पड़ता है। प्रमाणात्मक ज्ञान दोनों अशों को युगपत् ग्रहण करता है।

नय ज्ञान एक-एक अश को पृथक्-पृथक् ग्रहण करता है। पर्यायों को गौण कर द्रव्य की मुख्यता से द्रव्य का कथन किया जाना द्रव्यार्थिक नय है। यह नय एक है, क्योंकि इसमें भेद प्रभेद नहीं है। अशों का नाम पर्याय है, उन अंशों में जो प्रभेदित अंश है, वह अंश जिस नय का विषय है, वह पर्याया-र्थिक नय कहलाता है। पर्यायार्थिक नय को ही व्यवहार नय

कहते है। व्यवहार नय का स्वरूप 'व्यवहरण व्यवहारः' वस्तु में भेद कर कथन करना बताया है। यह गुण, गुणी का भेद कर वस्तु का निरूपण करता है, इसलिये इसे अपरमार्थ कहा है।

व्यवहार नय के दो भेद है—सद्भूत व्यवहार नय और असद्भूत व्यवहार नय। किसी द्रव्य के गुण उसी द्रव्य में विवक्षित कर कथन करने का नाम सद्भूत व्यवहार नय है। इस नय के कथन में इतना अयथार्थपना है कि यह अखड वस्तु में गुण-गुणी का भेद करता है। एक द्रव्य के गुणों का बलपूर्वक दूसरे द्रव्य में आरोपण किये जाने को असद्भूत व्यवहार नय कहते है। इस नय की अपेक्षा से क्रोधादि भावों को जीव के भाव कहा जायगा। शुद्ध द्रव्य की अपेक्षा से क्रोधादि जीव के गुण नहीं है, ये कर्मों के सम्बन्ध से आत्मा के विकृत परिणाम हैं। इन दोनों नयों के अनुपचरित और उपचरित के दो भेद हैं। पदार्थ के भीतर की शक्ति को विशेष की अपेक्षा से रहित सामान्य दृष्टि से निरूपण किये जाने को अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय कहा जाता है। अविरुद्धता पूर्वक किसी हेतु से उस वस्तु का उसीमें परकी अपेक्षा से जहाँ उपचार किया जाता है, उपचरित सद्भूत व्यवहार नय होता है।

अबुद्धिपूर्वक होनेवाले क्रोधादि भावों में जीव के भावों की

विवक्षा करना, असद्भूत अनुपचरित व्यवहार नय है। औदयिक क्रोधादि भाव जब बुद्धिपूर्वक हों, उन्हें जीव के कहना उपचरित सद्भूत व्यवहार नय है। उदाहरण—कोई पुरुष क्रोध या लोभ करता हुआ, यह समझ जाय कि मै क्रोध या लोभ कर रहा हूँ, उस समय कहना कि-यह क्रोधी या लोभी है।

व्यवहार का निषेध करना निश्चय-नय का विषय है। निश्चय नय वस्तु के वास्तविक स्वरूप पर प्रकाश डालना है। जैसे व्यवहार नय जीव को ज्ञानवान् कहेगा तो निश्चय नय उसका निषेध करेगा—जीव ऐसा नहीं है, क्योकि जीव अनन्तगुणो का अखड पिण्ड है, इसलिये वे अनन्तगुण अभिन्न प्रदेशी है। अभिन्नता में गुण-गुणी का भेद करना हो मिथ्या है, अतः निश्चय नय उसका निषेध करेगा। यदि वह किसी विषय का विवेचन करेगा तो उसका विषय भी मिथ्या हो जायगा। द्रव्यार्थिक नय का ही दूसरा नाम निश्चय नय है। निश्चय नय निषेध के द्वारा ही वस्तु के अवक्तव्य स्वरूप का प्रतिपादन करता है।

जीव का इस शरीर के साथ सम्बन्ध व्यवहार नय की दृष्टि से है, इसी नय की अपेक्षा देव-पूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, दान आदि धर्म है। एकान्तरूप से न केवल व्यवहार नय ग्राह्य है और न निश्चय नय ही। आचार्य ने उपर्युक्त पद्य में लक्षण

विध्वसी शरीर के साथ जीव सम्बन्ध का संकेत करते हुए निश्चय नय की दृष्टि द्वारा अपने स्वरूप-चिन्तन का प्रतिपादन किया है। व्यवहार नय की अपेक्षा से मोह आत्मा का विकृत स्वरूप है, निश्चय की अपेक्षा यह आत्मा का स्वरूप नहीं। अतः व्यवहारी जीव मोह के प्रबल उदय से शरीर को अपना समझ लेता है, किन्तु कुछ समय पश्चात् उसके इस समझने की निस्सारता उसे मालूम हो जाती है। जैसे बालू की दीवाल बन नहीं सकती या बनाते ही तुरत गिर जाती है, अथवा सुन्दर रग बिरंगे मेघ पटल क्षण भर के लिये अपना मन मोहक रूप दिखलाते हैं, पर तुरन्त विलीन हो जाते है, इसी प्रकार यह शरीर भी शीघ्र नष्ट होनेवाला है, इससे मोह कर पर भावों को अपना समझना, बड़ी अज्ञता है।

निश्चय नय द्वारा व्यवहार को त्याज्य समझकर जो आत्मा के स्वरूप का मनन करता है तथा इतर द्रव्यों और पदार्थों के वरूप को समझकर उनसे इसे अलिप्त मानता है, इसे अपने ज्ञान दर्शन, सुख, वीर्य, आदि गुणों से युक्त अखण्ड समझता है, अनुभव करता है वह इस शरीर में रहते हुए भी रागादि परिणामों को छोड़ देता है, अपने आत्मा में स्थिर निर्वाण को प्राप्त कर लेता है क्रोध, मान, माया लोभ, आदि विकार व्यवहार नय के विषय हैं, अत इनका आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं। मोह इन सब विकारों में

प्रबल है, इसीके कारण अन्य विकारों की उत्पत्ति होती है तथा अविवेकी व्यवहारी अपने को इन विकारों से युक्त समझते है।

नय और प्रमाण के द्वारा पदार्थों के स्वरूपों को अवगत कर आत्म-द्रव्य की सत्ता सबसे भिन्न, स्वतन्त्र रूपमें समझनी चाहिये। व्यवहार और निश्चय दोनों प्रकार के कर्म आरम्भिक साधक के लिये करणीय है, तभी वह शरीर के मोह से निवृत्त हो सकता है।

उंबूटं मिगिलागे येरुव ह्यं वेच्चल्के नीर्मूगिनो-
ळ्तुंबल्पोगुते मुग्गियु मरणमक्कुं जीवको देहवे ॥
ष्टं वाक्दृष्टदु लाभवी किडुव मेय्यं कोट्टु नित्यत्ववा-
दिवं धमदे कोंववं चदुरनै ! रत्नाकराधीश्वरा ॥१४॥

हे रत्नकराधीश्वर!

भोजन अधिक करने से, घोड़े पर बैठकर चलते समय ठोकर लगने से, नाक में पानी जाने से, जाते समय ठोकर लगने से यह जीव अकाल मृत्यु को प्राप्त होता है। अत: जीवात्मा ऐसे अनिश्चित शरीर से जितना काम लेगा उतनाही अच्छा समझा जायगा, अर्थात् जो व्यक्ति इस नाशवान शरीर को देखकर शाश्वत भाव को प्राप्त होता है वही चतुर है क्योंकि पद पद पर इस शरीर के लिए मृत्यु का भय है। अत. इस क्षणभंगुर शरीर को प्राप्त कर प्रत्येक व्यक्ति को आत्मकल्याण की ओर प्रवृत होना चाहिये ॥ १४ ॥

विवेचन——मनुष्य गति में अकाल मरण बताया गया है। देव, नारकी और भोगभूमि के जीवों का अकाल मरण नही होता है,

आयु पूर्ण होने पर ही आत्मा शरीर से पृथक् होता है। मनुष्य और तिर्यञ्च गति में अकाल मरण होता है, जिससे बाह्य निमित्त मिलने पर कभी भी इस शरीर से आत्मा पृथक् हो सकता है।

शरीर प्राप्ति का मुख्य ध्येय आत्मोत्थान करना है। जो व्यक्ति इस मनुष्य शरीर को प्राप्त कर अपना स्वरूप पहचान लेते है, अपनी आत्मा का विकास करते है, वस्तुतः वे ही इस शरीर को सार्थक करते हैं। इस क्षण-भगुर, अकाल मृत्यु से ग्रस्त शरीर का कुछ भी विश्वास नहीं, कि कब यह नष्ट हो जायगा अतः प्रत्येक व्यक्ति को सर्वदा आत्मकल्याण की ओर सजग रहना चाहिये। जो प्रवृत्ति मार्ग में रत रहने वाले है, उन्हें भी निष्काम भाव से कर्म करने चाहिये, सर्वदा अपनी योग प्रवृत्ति—मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को शुद्ध अथवा शुभ रूप में रखने का प्रयत्न करना चाहिये। कविवर बनारसी दास ने अपने बनारसी-विलास नामक ग्रन्थ में ससारी जीव को चेतावनी देते हुए कहा है:—

जामें सदा उतपात रोगन सों छीजै गात,
कछू न उपाय छिन-छिन आयु खपनौ।
कीजे बहु पाप औ नरक दुःख चिन्ता व्याप,
आपदा कालाप में विलाप ताप तपनौ॥

जामें परिगह को विषाद मिथ्या वकवाद,
विषैभोग सुखको सवाद जैसे सपनौ ।
ऐसो हे जगतवास जैसो चपला विलास,
तामें तूं मगन भयो त्याग धर्म अपनौ ।

अर्थ——इस शरीर में सर्वदा रोग लगे रहते है, यह दुर्बल, कम-जोर और क्षीण होता रहता है। क्षण-क्षण में आयु घटती रहती है, आयु के इस क्षीणपने को कोई नहीं रोक सकता है। नाना प्रकार के पाप भी मनुष्य इस शरीर में करता है, जिससे नरक की चिन्ता भी इसे सदा बनी रहती है। विपत्ति के आने प नाना प्रकार से संताप करता है, दुःख करना है, शोक करता है और अपने किये का पश्चाताप करता है। परिग्रह धन-धान्य वस्त्र, आभूषण, महल, आदि के संग्रह के लिये रात-दिन श्रम करता है; क्षणिक विषय भोगों को भोगता है, इनके न मिलने पर कष्ट और बेचैनी का अनुभव करता है। यह मनुष्य भव क्षणिक है, जैन आकाश में बिजली चमकती है, और क्षणभर में विलीन हो जाती है उसी प्रकार यह मनुष्य भव भी क्षणभर में नाश होने वाला है। यह जीव अपने स्वरूप को भूलकर इन विषयों में लीन हो गया है। अत: विषय-कषाय का त्याग कर इस मनुष्य जीवन का उपयोग आत्म कल्याण के लिये करना चाहिये।

ससार की अवस्था यह है कि मनुष्य मोह के कारण अपनी इस पर्याय को यों ही बरबाद कर देता है। प्रतिदिन सवेरा होता है और शाम होती है, इस प्रकार नित्य आयु क्षीण होती जा रही है। दिन रात तेजी से व्यतीत होते चले जा रहे है, जो सुखी है, जिनकी आजीविका अच्छी तरह चल रही है जिनका पुण्योदय से घर भरा पूरा है, उन्हें कुछ भी मालुम नही होता। ये हसते-खेलते, मनोरजन पूर्वक अपनी आयु को व्यतीत कर देते है। प्रतिदिन आंखों से देखते है कि कल अमुक व्यक्ति चल बसा, आज अमुक। जिसने जवानी में ऐश आराम किया था, हाथी-घोड़ों की सवारी की थी, जिसके सौन्दर्य की सब प्रशसा करते थे, जिसकी आज्ञा में नौकर-चाकर सदा तत्पर रहते थे, अब वह बूढ़ा हो गया है, उसके गाल पिचक गये हैं, सौदर्य नष्ट हो गया है, अनेक रोग उसे घेरे हुए है। अब नौकर-चाकरो की तो बातही क्या घर के कुटुम्बी भी उसकी परवाह नही करते है, सोचते है कि यह बुढ़ा कब घर खाली करे, जिससे हमें छुटकारा मिले।

प्रत्येक व्यक्ति ऑखों से देखता है कि फला व्यक्ति जो धनी था, करोड़पति था जिसका वैभव सर्वश्रेष्ठ था, जिसके घर में सोने-

दरिद्र हो गया है। जिसकी प्रतिष्ठा समाज में थी, जिसका समाज सब प्रकार से आदर करता था, जिसके बिना पचायत का काम नहीं होता था, अब वही धन न रहने से सब की दृष्टि में गिर गया है, जो पहले उसके पीछे रहते थे, वे ही अब उससे घृणा करते है, उसकी कटु आलोचना करते है और उसे सबसे अभागा समझते है।

इस प्रकार नित्य जीवन, मरण, दरिद्रता, वृद्धावस्था, अपमान, घृणा, स्वार्थ, अहंकार आदि की लीला को देखकर भी मनुष्य को विरक्ति नही होती, इससे बड़ा और क्या आश्चर्य हो सकता है?

दूसरे को बूढ़ा हम देखते है, पर अपने सदा युवा बने रहने की अभिलाषा करते है, दूसरों को मरते देखते हैं, पर अपने सदा जीवित रहने की भावना करते हैं, दूसरों को आजीविका से च्युत होते देखते हैं, पर अपने सदा आजीविका प्राप्त होते रहने की अभिलाषा करते हैं। यह हमारी कितनी बड़ी भूल है। यदि प्रत्येक व्यक्ति इस भूल को समझ जाय तो फिर उसे कल्याण करते देरी न हो।

कितने आश्चर्य की बात है कि दूसरों पर विपत्ति आयी हुई देखकर भी हम अपने को सदा सुखी रहने की बात सोचते है। मोह मदिरा के कारण प्रत्येक जीव मतवाला हो रहा है, अपने को

भूले हुए है जिसे औरों को बूढे होते हुए देख तथा मरते हुए देख कर भी बोध प्राप्त नहीं करता है। खाना, पीना, आनन्द करना, मिथ्या आशाएँ बांध कर अपने को संतुष्ट करना, अपने वास्तविक कर्त्तव्य के सम्बन्ध में कुछ नही सोचना; कितनी भयकर भूल है। प्रत्येक व्यक्ति को वैराग्य प्राप्त करने के लिये 'ससार और शरीर' इनदोनों का यथार्थ चिन्तन करना चाहिये।

पुलुवीडोळ्पलवु पगल्परद्निर्दा दायम पेत्तु वा-
ळ्नेलेयुळ्ळोंदेडेगेय्दुला नेलेयवर्नोवते पाळ्मेग्योळि- ॥
र्दोलविं पुण्यमणीमन गळसिकोंडा देवलोकक्के पो- ।
गलोड नोवरवंगो नोव तवगो। रत्नाकराधीश्वरा ॥१५॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

एक व्यक्ति एक छोटा सा मकान किराये पर लेता है। उस मकान मे रह कर नाना प्रकार की सपत्ति का अर्जन करता है। कालान्तर मे धनी हो कर जब वह व्यक्ति किसी बडे मकान मे चला जाता है तब पहले मकान का मालिक किराया नहीं मिलने के कारण अप्रसन्न हो जाता है। इसी प्रकार जब जीव इस शरीर को छोड़कर अन्य दिव्य शरीर को प्राप्त करता है तब पहले शरीर से सम्बन्ध रखने वाले सबधी अपने स्वार्थ को खतरे में जान कर दुःखी होते हैं। ॥१५॥

विवेचन—कार्माण शरीर के कारण इस जीव को चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करना पडता है। आगम में इसे पञ्च-

परिवर्तन के नाम से कहा गया है। पंच परिवर्तन का ही नाम ससार है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव ये पाँच परिवर्तन के भेद हैं। द्रव्य परिवर्तन के नोकर्म द्रव्यपरिवर्तन और कर्मद्रव्य परिवर्तन ये दो भेद हैं।

नोकर्म द्रव्यपरिवर्तन— किसी जीव ने एक समय में तीन शरीर—औदारिक, वैक्रियिक और आहारक तथा छः पर्याप्तियों—आहार, शरीर, इन्द्रिय, स्वासोच्छ्वास, भाषा और मन के योग्य स्निग्ध, वर्ण, रस, गन्ध आदि गुणो से युक्त पुद्गल परमाणुओं को तीव्र, मन्द या मध्यम भावों से ग्रहण किया और दूसरे समय में छोडा। पश्चात् अनन्त वार अग्रहीत, ग्रहीत और मिश्र परमाणुओं को ग्रहण करता गया और छोड़ता गया। अनन्तर वही जीव उन्हीं स्निग्ध आदि गुणों से युक्त उन्हीं तीव्र आदि भावों से उन्हीं पुद्गल परमाणुओं को औदारिक, वैक्रयिक और आहारक इन तीन शरीर और छः पर्याप्ति रूप से ग्रहण करता है तब नोकर्म द्रव्य-परिवर्तन होता है।

एक जीव ने एक समय में आठ कर्म रूप से किसी प्रकार के पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण किया और एक समय अधिक अवधि प्रमाण काल के बाद उनकी निर्जरा करदी। नोकर्म द्रव्य परिवर्तन के समान फिर वही जीव उन्हीं परमाणुओं को उन्हीं

कर्म रूप से ग्रहण करे। इस प्रकार समस्त परमाणुओं को जब क्रमशः कर्मरूप से ग्रहण कर चुकता है तब एक कर्म द्रव्य परिवर्तन होता है। नोकर्म द्रव्य परिवर्तन और कर्मद्रव्य परिवर्तन के समूह को द्रव्य परिवर्तन कहते है।

सूक्ष्म निगोदिया अपर्याप्तक सर्व जघन्य अवगाहना वाला जीव लोक के आठ मध्य प्रदेशों को अपने शरीर के मध्य में कर के उत्पन्न हुआ और मरा। पश्चात् उसी अवगाहना से अङ्गुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण आकाश में जितने प्रदेश हैं, उतनी बार वहीं उत्पन्न हुआ। पुन: अपनी अवगाहना में एक क्षेत्र बढा कर सर्व लोक को अपना जन्म क्षेत्र बनाने में जितना समय लगता है, उतने काल का नाम क्षेत्र परिवर्तन है।

कोई जीव उत्सर्पणी काल के प्रथम समय में उत्पन्न हो, पुनः द्वितीय उत्सर्पणी काल के द्वितीय समय में उत्पन्न हो। इसी क्रम से तृतीय, चतुर्थ आदि उत्सर्पणी काल के तृतीय चतुर्थ आदि समयों में जन्म ले और इसी क्रम से मरण भी करे। अवसर्पणी काल के समयों में भी उत्सर्पिणी काल की तरह वही जीव जन्म और मरण को प्राप्त हो तब काल परिवर्तन होता है।

नरक गति में कोई जीव जघन्य आयु दस हजार वर्ष को लेकर उत्पन्न हो, दस हजार वर्ष के जितने समय है उतनी बार प्रथम

नरक में जघन्य आयु का बन्ध कर उत्पन्न हो। फिर वही जीव क्रम से एक समय अधिक आयु को बढ़ाते हुए तेतीस सागर आयु को नरक में पूर्ण करे तब नरक गति परिवर्तन होता है। तिर्यञ्चगति में कोई जीव अन्तमुहूर्त्त प्रमाण जघन्य आयु को लेकर अन्तमुहूर्त्त के जितने समय में उतनी बार उत्पन्न हो, इस प्रकार एक समय अधिक आयु का बन्ध करते हुए तीन पल्य की आयु पूर्ण करने पर तिर्यञ्चगति परिवर्तन होता है। मनुष्य गति परिवर्तन तिर्यञ्चगति के समान और देवगति परिवर्तन नरक गति के समान होता है। परन्तु देवगति की आयु में एक समयाधिक वृद्धि इकतीस सागर तक ही करनी चाहिये। क्योंकि मिथ्यादृष्टि अन्तिम ग्रैवेयक तक ही जाता है। इस प्रकार इन चारों गतियों के परिभ्रमण काल को भवपरिवर्तन कहते है।

पञ्चेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीव के जो कि ज्ञानावरण कर्म की सर्वजघन्य अन्तःकोटाकोटि स्थिति को बान्धता है, असख्यात लोक प्रमाण कषाय अध्यवसाय स्थान होते है। इनमें संख्यात भागवृद्धि, असख्यात भाग वृद्धि, सख्यात गुणवृद्धि, असख्यात गुणवृद्धि, अनन्तगुणवृद्धि, ये छः वृद्धियाँ भी होती रहती है, अन्त कोटाकोटि की स्थिति में सर्वजघन्य कषायाध्यवसाय स्थान निमित्तक अनुभाग अध्यवसाय के स्थान असंख्यातलोक

प्रमाण होते है। सर्वजघन्य स्थिति,और सर्वजघन्य अनुभागाध्यवसाय के होने पर सर्वजघन्य योगस्थान होता है। पुनः वही स्थिति कषायाध्यवसाय स्थान और अनुभागाध्यवसाय स्थान के होने पर असख्यात भाग वृद्धि सहित द्वितीय योगस्थान होता है। इस प्रकार श्रेणी के असख्यातवें भाग प्रमाण योगस्थान होते है। योग स्थानों में अनन्तभागवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि को छोड़ शेष चार प्रकार की ही वृद्धियाँ होती है।

पश्चात् उसी स्थिति और उसी कषायाध्यवसाय स्थान को प्राप्त करने वाले जीव के द्वितीय कषायाध्यवसाय, स्थान होता है, इसके अनुभागाध्यवसाय स्थान और योगस्थान पूर्ववत् ही होते है। इस प्रकार असख्यात लोक प्रमाण कषायाध्यवसाय स्थान होते है। इस तरह जघन्य आयु में एक-एक समय को वृद्धि क्रमसे तीस कोड़ाकोड़ी सागर की उत्कृष्ट स्थिति को पूर्ण करे। इस प्रकार सभी कर्मों की मूल प्रकृतियों और उत्तर प्रकृतियों की जघन्य स्थिति लेकर उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त कषाय, अनुभाग और योग स्थानों को पूर्ण करने पर एक भाव परिवर्तन होता है।

यह जीव अनादि काल से ससार में इस पच परावर्तनों को करता चला आ रहा है। जब सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है, तभी इसे इन परिवर्तनों से छुटकारा मिलने की आशा

होती है। मिथ्यात्व ही परिवर्तन का प्रधान कारण है, इसके दूर हुए बिना जीव का कल्याण त्रिकाल में भी नहीं हो सकता है, जब मनुष्य गति के मिलने पर जीव आत्मा की ओर दृष्टिपात करता है, उसका चिन्तन करता है, उसके रूप में रमण करता है तो सद्बोध प्राप्त हो जाता है और मिथ्यात्व जीव का दूर हट जाता है।

ध्यानक्किल्ल तपक्के सल्ल मरणंगाण्वदु निम्मत्तर !
ध्यानक्कोल्लेने निप्पवं मडियें नोयल्तक्कुदिष्टादिगळ् ॥
दानं गेय् दु तपक्के पाय् दु मरणंगाण्वंदु निम्मत्तर–
ध्यानं गेयद्ळिदंगे शोकिपरिदे ! रत्नाकराधीश्वरा !॥१६॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

जिस व्यक्ति ने कभी दान नही किया, जिस व्यक्ति का कभी तपस्या मे मन नही लगा, जिस व्यक्ति ने मरने के समय प्रभु का ध्यान नहीं किया उस व्यक्ति के मरजाने पर सम्बन्धियों को शोक करना सर्वथा उचित है, क्योंकि उस पापात्मा ने आत्म-कल्याण न करते हुए अपनी लीला समाप्त कर दी। दान-धर्म करके, तपश्चर्या मे सदा आगे रहकर तथा अन्तिम समय में अक्षर का ध्यान करते हुए जिस ने मृत्यु को प्राप्त किया उसके लिए कोई क्यो शोक प्रकट करेगा? आत्म-कल्याण करता हुआ जो मृत्यु को प्राप्त होता है उस जीव के लिए शोक करना सर्वथा अयोग्य है॥ १६ ॥

विवेचन—यह प्राणी मोह के कारण, शरीर, धन, यौवन आदि को अपना मानता है, निरन्तर इनमें मग्न रहता है, इसलिये दान, तप, इन्द्रिय निग्रह आदि कल्याणकारी कामो को नहीं कर पाता है। विनाशीक धन, सम्पत्ति को शाश्वत समझता है, उसमें अपनत्व की कल्पना करता है, इसलिये दान देने में उसे कष्ट का अनुभव होता है। मोह के वशीभूत होने के कारण वह धन का त्याग—दान नहीं कर पाता है। पर सदा यह स्मरण रखना होगा कि जल की तरगों के समान शरीर और धन चंचल है। जवानी थोडे दिनों की है, धन मन के सकल्पो के समान क्षण स्थायी है, विषय-भोग वर्षा काल मे चमकने वाली बिजली की चमक से भी अधिक चचल है, फिर इनमें ममत्व कैसा ?

जिस लक्ष्मी का मनुष्य गर्व करता है, जिसके अस्तित्व के कारण दूसरों को कुछ नहीं समझता तथा जिसकी प्राप्ति के लिये माता, पिता भाई-बन्धुओ की हत्या तक कर डालता है, वह लक्ष्मी आकाश मे रहने वाले सुन्दर मेघ पटलो के समान देखते देखते विलीन होने वाली है। प्रत्यक्ष देखा जाता है कि कल जो धनी था, जिसकी सेवामे हजारो दास दासियॉ हाथ जोडे आज्ञा की प्रतीक्षा मे प्रस्तुत थीं, जिसके दरवाजे पर

मोटर, हाथी, घोड़ों का समुदाय सदा वर्तमान था, जिसका सम्मान बड़े-बड़े अधिकारी, धर्म धुरन्धर, राजा-महाराजा करते थे, जो रूपवान् , गुणवान् , धर्मात्मा और विद्वान् माना जाता था; आज वही दरिद्री होकर दर-दर का भिखारी बन गया है, वही अब पापी मूर्ख, अकुलीन, दुश्चरित्र, व्यसनी, दुर्गुणी माना जाता है। लोग उसके पास भी जाने से डरते है, उसकी खुलकर निन्दा करते हैं और नाना प्रकार से उसको बुरा-भला कहते है !

धनकी सार्थकता दान में है, दान देने से मोह कम होता है। शास्त्रकारो ने धन की तीन स्थितियॉ बतलायी है—दान, भोग और नाश, उत्तम अवस्था धन की दान है, दान देने से ही धन की शोभा है । दान न देने से ही धन नष्ट होता है, दान से धन घटता नहीं, प्रत्युत बढ़ता चला जाता है। जिस व्यक्ति ने आजीवन अपने स्वार्थ की पूर्त्ति के लिए धनार्जन किया है, वह व्यक्ति ससार का सबसे बड़ा पापी है । ऐसे कंजूस व्यक्ति की मरने पर लाश को कुत्ते भी नहीं खाते है। केवल अपने स्वार्थ के लिये जीना और नाना अत्याचार और अन्यायों से धनार्जन करना निकृष्ट जीवन है, ऐसे व्यक्ति का-जीवन मरण कुत्ते के तुल्य है। यह व्यक्ति न तो अपने लिये कुछ कर पाता है और न समाज के लिये ही, वह अपने इस मनुष्य जन्म

को ऐसे ही खो देना है। मनुष्य जन्म लेते समय खाली हाथ आता है और मरते समय भी खाली हाथ ही जाता है, अतः इस धन में मोह क्यों ?

दान करने के पश्चात् धन की द्वितीय स्थिति भोग है। जो धनार्जन करता है, उसे उस धन का सम्यक् प्रकार उपभोग भी करना चाहिये। धन का दुरुपयोग करना बुरा है, उपयोग अपने कुटुम्ब तथा अन्य मित्र, स्नेही आदि के भरण-पोषण में करना गृहस्थ के लिये आवश्यक है। दान और भोग के पश्चात् यदि धन शेष रहे तो व्यावहारिक उपयोग के लिये उसका संग्रह करना चाहिये। जिस धन से दान और उपभोग नहीं किया जाता है वह धन शीघ्र नष्ट हो जाता है। धनार्जन के लिये भी अहिंसक साधनों का ही प्रयोग करना चाहिये। चोरी, बेईमानी, ठगी, धूर्तता, अधिक मुनाफा खोरी, आदि साधनों से धनार्जन कदापि नहीं करना चाहिये।

आजीविका अर्जन करने में गृहस्थ को दिन रात आरम्भ करना पड़ता है, अतः वह दान द्वारा अपने इस पाप को हल्का कर पुण्य बन्ध कर सकता है। दान चार प्रकार का है—आहार दान, औषध दान, अभयदान और ज्ञानदान। सुपात्र को भोजन देना या गरीब, अनाथों को भोजन देना आहारदान है। रोगी व्यक्तियों

की सेवा करना, उन्हें औषध देना तथा उनकी देख-भाल करना औषध दान है। जीवों की रक्षा करना, निर्भय बनाना अभयदान है तथा सुपात्रों को ज्ञानदान देना, ज्ञान के साधन ग्रन्थ आदि भेंट करना ज्ञानदान है। यों तो इन चारों दानों का समान माहात्म्य है, पर ज्ञानदान का सबसे अधिक महत्व बताया गया है। प्रथम तीन दान शारीरिक बाधाओं का ही निराकरण करते हैं, पर ज्ञान-दान आत्मा के निजी गुणों का विकास करता है, यह जीव को सदा के लिये अजर, अमर, क्षुधादि दोषों से रहित कर देता है। ज्ञान के द्वारा ही जीव सासारिक विषय-वासनाओं को छोड़ त्याग, तपस्या और कल्याण के मार्ग का अनुसरण करता है।

दान के फल में विधि, द्रव्य, दाता और पात्र की विशेषता से विशेषता आती है। सुपात्र के लिये खडे होकर पड़गाहना—प्रतिग्रहण, उच्चासन देना, चरण धोना, पूजन करना, नमस्कार करना, मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि, और भोजनशुद्धि ये नव विधि है। विधि में आदर और अनादर करना विधि विशेष है। आदर से पुण्य और अनादर से पाप का बन्ध होता है। शुद्ध गेहूँ, चावल, घृत, दूध आदि भक्ष्य पदार्थ द्रव्य है। पात्र के तप, स्वाध्याय, ध्यान की वृद्धि के लिये साधन भूत द्रव्य पुण्य का कारण है तथा जिस द्रव्य से पात्र के तप, स्वाध्याय की वृद्धि न

हो वह द्रव्य विशिष्ट पुण्य का कारण नहीं होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य शुद्धाचरण करने वाले दाता कहलाते है। दाता में श्रद्धा तुष्टि भक्ति, विज्ञान, अलोभता, क्षमा और शक्ति ये दाता के सात गुण है। पात्र में अश्रद्धा न होना, दान में विषाद न करना। फल प्राप्ति की कामना न होना दाता की विशेषता है।

पात्र तीन प्रकार के होते है—उत्तम, मध्यम और जघन्य। महाव्रत के धारी मुनि उत्तम पात्र है, व्रती श्रावक मध्यम पात्र हैं और सम्यग्दृष्टि अविरति श्रावक जघन्य पात्र हैं। योग्यपात्र को विधि पूर्वक दिया गया दान बटबीज के समान अनेक जन्म-जन्मान्तरों में महान् फल को देता है। जैसे भूमि की विशेषता के कारण वृक्षों के फलों में विशेषता देखी जाती है, उसी प्रकार पात्र की विशेषता से दान के फल में विशेषता हो जाती है। प्रत्येक श्रावको अपनी शक्ति के अनुसार चारो प्रकार के दानो को देना चाहिये।

शक्ति अनुसार प्रति दिन तप भी करना चाहिये। फल की अपेक्षा न कर संयम वृद्धि के लिये, रागनाश के लिये तथा कर्मों के क्षय के लिये अनशन, अवमौदर्य वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, कायक्लेश, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान इन बारह तपों को करना चाहिये।

इच्छाएँ ही ससार की विषय-तृष्णा को बढाने वाली है, अतः इच्छाओ का दमन करना, इन्द्रिय निग्रह करना, आध्यात्मिक विकास के लिये परमावश्यक है। प्रभु—शुद्धात्मा के गुणों का चिन्तन, स्मरण भी प्रतिदिन करना अनिवार्य है, क्योकि प्रभु—चिन्तवन से जीव के परिणामो में विशुद्धि आती है तथा स्वयं अपने विकारों को दूर कर प्रभु बनने की प्रेरणा प्राप्त होती है। जो व्यक्ति धर्म ध्यान पूर्वक अपना शरीर छोडता है, उसके लिये किसी को भी शोक करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि जिस काम के लिये उसने शरीर ग्रहण किया है, उसका वह काम पूरा हो गया।

साविगंजलदेके सावुपेरते मेय्दाळिदा दर्गंजल।
सावे माण्गुमे कावरुंटेयकटा! ई जीवनेनेदुवुं॥
सावं कडवनल्लवे मरणवागल्मुंदे पुट्टने-।
नीवेन्नोळिनले सावुदु सुखवलै! रत्नाकराधीश्वरा! ॥१७॥

हे रत्नाकराधीश्वर!

मृत्यु से क्यों डरा जाय? शरीरधारियो से मृत्यु क्या अलग रहती है? मृत्यु डरने वालो को छोड़ भी तो नही सकती। क्या मृत्यु से कोई बचा सकता है? क्या इस जीव ने मृत्यु को कभी प्राप्त नही किया? मरने के बाद क्या पुनर्जन्म नही होगा?

विवेचन—मरण पाँच प्रकार का बताया गया है—पंडित-पंडित मरण, पंडित मरण, बाल पंडित मरण, बाल मरण और बाल-बाल मरण। जिस मरण के होने पर फिर जन्म न लेना पड़े, वह पंडित-पंडित मरण कहलाता है। यह केवली भगवान या चरम शरीरियों के होता है। जिस मरण के होने पर दो-तीन भव में मोक्ष की प्राप्ति हो जाय, उसे पंडित मरण कहते हैं, यह मरण मुनियों के होता है। देश सयम पूर्वक मरण करने को बाल पंडित मरण कहते है, इस मरण के होने पर सोलहवें स्वर्ग तक की प्राप्ति होती है। व्रत रहित सम्यग्दर्शन पूर्वक जो मरण होता है, उसे बालमरण कहते है, इस मरण से भी स्वर्ग आदि की प्राप्ति होती है। मिथ्यादर्शन सहित जो मरण होता है उसे बाल-बाल मरण कहते है यह चतुर्गति में भ्रमण करने का कारण है।

मरण का जैन साहित्य में बड़ा भारी महत्व बताया गया है। यदि मरण सुधर गया तो सभी कुछ सुधर जाता है। मरण को सुधारने के लिये ही जीवन भर व्रत, उपवास कर आत्मा को शुद्ध किया जाता है। यदि मरण बिगड़ गया हो तो जीवन भर की कमाई नष्ट हो जाती है। कषाय और शरीर को कृश कर आत्म शुद्धि करना तथा धन, कुटुम्ब, स्त्री, पुत्र आदि से

मोह छोड़ कर अपनी आत्मा के स्वरूप में रमण करते हुए शरीर का त्याग करना समाधिमरण कहलाता है। यह वीरता पूर्वक मृत्यु से लडना है, अहिसा का वास्तविक स्वरूप है। साधक जब अपनी मृत्यु को निकट आई हुई समझ लेता है तो वह संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर भोजन का त्याग कर देता है। वह ससार के सभी पदार्थों से अपनी तृष्णा, लोलुपता और मोह ममता को छोडकर आत्म कल्याण की ओर प्रवृत्त होता है। अभिप्राय यह है कि अपनी आत्मा से परपदार्थों को भले प्रकार त्यागना सन्यास मरण है।

इस सल्लेखना या समाधि मरण में आत्म-घात का दोष नहीं आता है, क्योकि कषाय के आवेश में आकर अपने को मारना आत्म-घात है। यह शरीर धर्म साधन के लिये है, जब तक इससे यह कार्य सम्पन्न हो सके तब तक योग्य आहार-विहार आदि के द्वारा इसे स्वस्थ रखना चाहिये। जब कोई ऐसा रोग हो जाय जिसमे उपचार करने पर भी इस शरीर की रक्षा न हो सके तो समाधिमरण ग्रहण कर लेना चाहिये। किसी असाध्य रोग के हो जाने पर इस शरीर को धर्म साधन में बाधक समझ कर अपकारी नौकर के समान निर्ममत्व हो सावधानी से छोड़ना चहिये। यह शरीर तो नष्ट होने पर फिर भी मिल जायगा, पर

धर्म नष्ट होने पर कभी नहीं मिलेगा। अत: रत्नत्रय की प्राप्ति के लिये शरीर से मोह छोडकर समाधि ग्रहण करनी चाहिये।

मरना तो संसार में निश्चित है, किन्तु बुद्धिमानी पूर्वक सावधान रहते हुए मरना कठिन है। कषायवश विष खा लेना, अग्नि में जल जाना, रेल के नीचे कट जाना, नदी में डूब जाना, आदि कार्य निंद्य है, ऐसेकार्यों से मरने पर आत्मा की भलाई नहीं होती है। जो ज्ञानी पुरुष मरण के सन्मुख होने हुए निष्कषाय भाव पूर्वक शरीर का त्याग करते है, उनका ज्ञानपूर्वक मन्दकषाय सहित मरण होने से वह मरण मोक्ष का कारण होता है।

समाधि मरण दो प्रकार से होता है—सविचार पूर्वक और अविचार पूर्वक। जब शरीर जर्जरित हो जाय, बुढापा आ जाय, दृष्टि मन्द हो जाय, पॉव से चला न जाय, असाध्य रोग हो जाय या मरण काल निकट आ जाय तो शरीर और कषायों को कृश करते हुए अन्त मे चार प्रकार के आहार का त्याग कर धर्मध्यान सहित मरण करना सविचार समाधि मरण है। इस समाधि मरण का उपयोग प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है। वृद्धावस्था तक संसार के सभी भोगों को भोग लेता है, सांसारिक इन्द्रिय जन्य सुखों का आस्वादन भी कर लेता है तथा शक्ति अनुसार

धर्म भी करता रहता है। जब शरीर असमर्थ हो जाय जिससे धर्म साधन न हो सके तो शान्त भाव से विकारों और चारों प्रकारके आहारों को त्याग कर मरण करे। मरते समय शान्त, अविचल और निर्लिप्त रहने की बड़ी भारी आवश्यकता है। मन में किसी भी प्रकार की वासना नहीं रहनी चाहिये, बासना रह जाने से जीव का मरण ठीक नहीं होता है।

अचानक मृत्यु आजाय जैसे ट्रेन के उलट जाने पर, घर में आग लग जाने पर, मोटर दुर्घटना हो जाने पर, साँप के काट लेने पर ऐसा संयोग आजाय जिससे शरीर के स्वस्थ होने का कोई भी उपचार न किया जा सके तो शरीर को तेल रहित दीपक के समान स्वय ही विनाश के सम्मुख आया जाना सन्यास धारण करे। चार प्रकार के आहार त्याग कर पंच परमेष्ठी के स्वरूप तथा आत्म ध्यान में लीन हो जाय। यदि मरण में किसी प्रकार का सन्देह दिखलायी पडे तो ऐसा नियम कर ले कि इस उपसर्ग से मृत्यु हो जाय तो मेरे आत्मा के सिवाय समस्त पदार्थों से ममत्व भाव का त्याग है, यदि इस उपसर्ग से बच गया तो पूर्ववत् आहार-पान, परिग्रह आदि ग्रहण करूँगा। इस प्रकार नियम कर शरीर से ममत्व छोड़, शान्त परिणामों के साथ किसी भी प्रकार की वांच्छा से रहित हो शरीर का त्याग

करना चाहिये।

समाधि मरण के लिये द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का भी ख्याल रखना चाहिये। जब समाधि-मरण ग्रहण करे उस समय मित्र, कुटुम्बी और अन्य रिश्तेदारों को बुलाकर उनसे क्षमा याचना करनी चाहिये। तथा स्वयं भी सबको क्षमा कर देना चाहिये। स्त्री, पुत्र, माता, पिता आदि के स्नेहमयी सम्बन्धी को त्याग कर रुपये, पैसे, धन-दौलत, गाय, भैंस, दास, दासी आदि से मोह दूर करना चाहिये। यदि कुटुम्बी मोहवश कातर हों तो साधक को उन्हें स्वयं उपदेश देकर समझाना चाहिये। संसार की अस्थिरता, वास्तविकता और खोखलापन बताकर उनके मोह को दूर करना चाहिये। उनसे साधक को कहना चाहिये कि यह आत्मा अमर है, यह कभी नहीं मरता है, इसका पर पदार्थों से कोई सम्बन्ध नहीं, यह नाशवान शरीर इसका नहीं है, यह आत्मा न स्त्री होता है, न पुरुष, न नपुंसक और न गाय होता है, न बैल। इसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। यह तो सब पौद्गलिक कर्मों का नाटक है, उन्हीं की माया है। मेरा आप लोगों के साथ इतना ही संयोग था सो पूरा हुआ। ये संयोग वियोग तो अनादिकाल से चले आ रहे हैं। स्त्री, पुत्र, भाई, आदि का रिश्ता मोहवश पर निमित्तक है, मोह के दूर होते ही इस

ससार की नीरसता स्पष्ट दिखलायी पड़ती है। अब मुझे कल्याण के लिये अवसर मिल रहा है, अतः आप लोग शान्तिपूर्वक मुझे कल्याण करने दें। मृत्यु के पजे से कोई भी नहीं बचा सकता है, आयु कर्म के समाप्त हो जाने पर कोई इस जीव को एक क्षण भी नहीं रख सकता है, अत. अब आप लोग मुझे क्षमा करे, मेरे अपराधों को भूल जायँ। मैने इस जीवन में बड़े पाप किये है। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि से अभिभूत होकर अपनी और पर की नाना प्रकार से विराधना की है।

समाधिमरण करनेवाले को शरीर से ममत्व घटाने के लिये क्रमशः पहले आहार का त्याग कर दुग्ध पान करना चाहिये, पश्चात् दूध का भी त्याग कर छाछ का अभ्यास करे। कुछ समय पश्चात् छाछ को छोड़ कर गर्म जल को पीकर रहे। जब आयु दो-चार पहर शेष रह जावे तो शक्ति के अनुसार जलादि का भी त्याग कर उपवास करे। योग्यता और आवश्यकता के अनुसार ओढने-पहरने के वस्त्रों को छोड़ शेष सभी वस्त्रों का त्याग कर दे। यदि शक्ति हो तो सभी प्रकार के परिग्रह का त्याग कर मुनिव्रत धारण करे। जब तक शरीर मे शक्ति रहे तृण के आसन पर पद्मासन लगा कर बैठ आत्म स्वरूप का चिन्तन करता रहे। जितने समय तक ध्यान में लीन रह सके, रहे। कुछ

समय तक बारह भावनाओं के स्वरूप का चिन्तन करे, संसार के स्वार्थ, मोह, संघर्ष आदि का स्वरूप विचारे।

बैठने की शक्ति न रहने पर लेट जाय और मन, वचन, काय को स्थिर कर समाधिमरण में दृढ करनेवाले श्लोकों का पाठ करे तथा अन्य लोगों के द्वारा पाठ किये गये श्लोकों को मन लगाकर सुने। जब बिल्कुल शक्ति घट जाय तो केवल णमोकार मंत्र का जाप करता हुआ पंच परमेष्ठी के गुणों का चिन्तन करे।

समाधिमरण में शय्या, सयम के साधन उपकरण, आलोचना, अन्न और वैयावृत्त सम्बन्धी इन पॉच बहिरग शुद्धियों को तथा दर्शन, ज्ञान, चारित्र, विनय और सामायिकादि षट् आवश्यक सम्बन्धी इन पॉच अन्तरंग शुद्धियों को पालना आवश्यक है। समाधिमरण करनेवाले के पास कोई भी व्यक्ति सासारिक चर्चा न करे। साधक को समाधि में दृढ करनेवाली वैराग्यमयी चर्चा ही करनी चाहिये। उसके पास रोना, गाना, कोलाहल करना आदि का पूर्ण त्याग कर देना आवश्यक है। ऐसी कथाऍ भी साधक को सुनानी चाहिये जिनके सुनने से उसके मन में समाधि मरण के प्रति उत्साह, स्थिरता और आदर भाव पैदा हो। समाधिमरण धारण करनेवाले को दोष उत्पन्न करनेवाली पॉच

बातों का अवश्य त्याग कर देना चाहिये—

१—*जीवित आशसा*—मोहबुद्धि के कारण ऐसो वाछा करना कि यदि मै अच्छा हो जाऊँ तो ठाक है, कुछ काल तक समार के सुखों को और भोग लूँगा। धन, जन, आदि से परिणामों में आसक्ति रखना, उन पर ममता करना, जिससे जीवित रहने की लालसा जाग्रत हो।

२—*मरण आशंसा*—रोग के कष्टो से घबड़ा कर जल्दी मरने की अभिलाषा करना। वेदना, जो कि पर जन्य है, कर्मों से उत्पन्न है, आत्मा के साथ जिसका कोई सम्बन्ध नहीं, अपनी समझ कर घबड़ा जाना और जल्दी मरने की भावना करना।

३—*मित्रानुराग*—मित्र, स्त्री, पुत्र, माता, पिता, हितैषी तथा अन्य रिश्तेदारों की प्रीति का स्मरण करना, उनके प्रति मोह बुद्धि उत्पन्न करना।

४—*सुखानुबन्ध*—पहले भोगे हुए सुखों का बारबार चिन्तन करना।

५—*निदानबन्ध*—पर भव में सासारिक विषय भोगो की, धन-धान्य, वैभव की वाछा करना। इस प्रकार इन पॉचो दोषो को दूर कर समाधि ग्रहण करनी चाहिये।

इस प्रकार मरण को सफल बनाने का प्रयत्न प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिये। यह मनुष्य जीवन बार-बार नहीं मिलता है, इसे प्राप्त कर रत्नत्रय स्वरूप की उपलब्धि करनी चाहिये। मोह, ममता के कारण यह जीव ससार के मोहक पदार्थों से प्रेम करता है, वस्तुत इसका इनसे तनिक भी सम्बन्ध नहीं है। इस शरीर की सार्थकता समाधिमरण धारण करने में ही है, यदि अन्त भला हो गया तो सब कुछ भला हो ही जाता है। अतः प्रत्येक ससारी जीवको समाधिमरण द्वारा अपने नरभव को सफल कर लेना चाहिये।

प्राणं माणव जन्ममं पडेद मेय्योळ्निच्चलु पंचक-
ल्याणं पंचगुरुस्तव परमशास्त्रं मोक्षसंधानचि ॥
त्त्राणं चित्तिन रत्न मूरिवन ळपिचिंतन गेय्वने-।
जाणं मत्तिन चित कर्म्मरुळरै ! रत्नाकराधीश्वरा ! ॥१८॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

गर्भावतरण, जन्माभिषेक, परिनिष्क्रमण, केवल और निर्वाण—ये पाँच कल्याण, अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु—इन पंच परमेष्ठियों के स्तोत्र-श्रेष्ठ शास्त्र-मोक्ष उत्पन्न करने वाला आत्म-स्वरूप का रक्षण-आत्मा के 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र' ये तीन रत्न सभी मनुष्यों के शरीर में सदा विद्यमान रहने योग्य प्राण हैं। जो मनुष्य प्रेम पूर्वक इन प्राणों का चिन्तन करता है वह चतुर है। इसके विपरीत, अन्य वस्तुओं के चिन्तन करने वाले मूर्ख माने जा सकते हैं॥ १८ ॥

विवेचन—आत्मा चेतन है और ससार के सभी पदार्थ अचेतन। चेतन आत्मा का अचेतन कर्मों के साथ सम्बन्ध होने से यह ससार चल रहा है। इस शरीर में दस प्राण बताये गये है--पॉच इन्द्रियॉ—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र, तीन बल—मनोबल, बचनबल और कायबल आयु एवं श्वासोच्छ्वास। मूलतः प्राग दो प्रकार के है—द्रव्यप्राण और भावप्राण। द्रव्यप्राण उपर्युक्त दस है, भावप्राण में आत्मा की विभाव परिणति से उत्पन्न पर्यायें है। जो व्यक्ति इन प्राणों के सम्बन्ध में न विचार कर पंचपरमेष्ठी के गुणों का स्तवन, आत्म-स्वरूप चिन्तन, रत्नत्रय के सम्बन्ध में विचार करता है, वह अपने स्वरूप को पहचान सकता है।

भगवान् के गुणों के स्मरण से आत्मा की पूत भावनाऍ उद्बुद्ध हो जाती हैं। छुपी हुई प्रवृत्तियाँ जाग्रत हो जाती है तथा पर पदार्थों से मोह बुद्धि कम होती है। तीर्थंकर भगवान् के पञ्च कल्याणकों का निरन्तर स्मरण करने से उनके पुन्यातिशय का स्मरण आता है तथा विकार और वासनाऍ जो आत्मा को विकृत बनाये हुये है, उनसे दूर होने की प्रवृत्ति जाग्रत होती है। प्रवृत्तिमार्ग में लगनेवाले साधक को शुभ प्रवृत्तियों में रत होना चाहिये। अशुभ प्रवृत्तियॉ बन्धन को दृढ करती है।

यद्यपि शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार की प्रवृत्तियाँ बन्धन का कारण है, दोनों ही ससार में भटकानेवाली है । जहाँ अशुभ-प्रवृत्ति आत्मा को निवृत्ति मार्ग से कोसों दूर कर देती है, वहाँ शुभ-प्रवृत्ति उसके पास पहुँचाने में मदद करती है ।

जो सुबुद्ध है, जिन्हे भेदविज्ञान हो गया है, जो पर पदार्थों की परता का अनुभव कर चुके है जिनका ज्ञान केवल शाब्दिक नहीं है और जो आत्मरत है वे आत्मा के भीतर सर्वदा वर्तमान रहनेवाले रत्नत्रय को प्राप्त कर लेते है ।

मनुष्य का मन सबसे अधिक चचल है, उसे स्थिर करने के लिये गुणस्तवन, रत्नत्रय के स्वरूप चिन्तन और निजपरिणति में लगाना चाहिये । स्वामी समन्तभद्र ने वीतराग प्रभु की गुणस्तुति से किस प्रकार पुण्य का बन्ध होता है, सुन्दर ढग से बताया है—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे ।
तथापि ते पुण्य गुणस्मृतिर्न. पुनातु चित्त दुरिताञ्जनेभ्यः ॥

अर्थ—हे वीतरागी प्रभो ! आप न स्तुति करने से प्रसन्न होते है और न निन्दा करने से वैर करते है किन्तु आपके पुण्य गुणों की स्मृति पापों से हमारी रक्षा कर देती है, हमारे मन को पवित्र निष्कलक, और निर्मल बना देती है । अत रत्नत्रय को

जाग्रत करनेवाले स्तोत्रो का पाठ करना निर्वाण भूमियों की वदना करना, शास्त्र स्वाध्याय करना कल्याण के साधन है।

धनमं धान्यमनूटंमं वनितेयं वंगारमं वस्त्र वा-
हनराजादिगळ सदा वयसुवी भ्रांतात्मरा पटियोळ्।
जिनरं सिद्धरनार्यवर्यरनुपाध्यायर्कळ साधुपा-
वनरं चिंतिसि मुक्तिगे कोदगरो ! रत्नाकराधीश्वरा ! ॥१९॥

हे रत्नाकराधीश्वर!

भ्रान्ति में पड़ा हुआ आत्मा धन, भोजन, स्त्री, सोना, वस्त्र, वैभव, राज्य इत्यादि वस्तुओ के चिन्तन में मन न लगा पवित्र जिनेश्वर, सिद्ध आचार्य, उपाध्याय, सर्व साधु का चिन्तन कर मोक्ष को क्यों नही प्राप्त हो जाता ? ॥ १९ ॥

विवेचन—यह आत्मा मिथ्यात्व के कारण ससार के बन्धन में अनादिकाल से जकडा हुआ है, इसने अपने से भिन्न पर-पदार्थों को अपना समझ लिया है, इससे भ्रान्त बुद्धि आ गयी है। जिस क्षण यह आत्मा धन, सोना, वस्त्र आदि जड पदार्थों को अपने से पर समझ लेता है, सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है। धन पुद्गल है, इसका चेतन आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं। कर्माच्छादित आत्मा भी जब इस शरीर में आता है तो अपने साथ किसी भी प्रकार का परिग्रह नहीं लाता। उसके पास एक पैसा

भी नहीं होता; अतः धन को पर समझ कर उससे मोह बुद्धि दूर करनी चाहिये।

मोह अपनी वस्तु पर होता है, दूसरे की पर नहीं। धन अपना नहीं, आत्मा का धन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, यह तो पौद्गलिक है। इसी प्रकार भोजन, वस्त्र भी आत्मा के नहीं है, आत्मा को किसी भी बाह्य भोजन की आवश्यकता नहीं है। इसे भूख नहीं लगती है और न यह खाती-पीती है, यह तो अपने स्वरूप मे स्थित है। विज्ञान का भी नियम है कि एक द्रव्य कभी भी दूसरे द्रव्य रूप परिणमन नहीं करता है। किसी भी द्रव्य में विकार हो सकता है, पर वह दूसरे द्रव्य के रूप मे नहीं बदलता है। अतः आत्मा जब एक स्वतन्त्र द्रव्य है, जो चेतन है, ज्ञानवान है, अमूर्त्तिक है, फिर वह मूर्त्तिक भोजन को कैसे ग्रहण करेगा?

यहाँ शका हो सकती है कि जब आत्मा भोजन को ग्रहण नहीं करता तो फिर जीव को भूख क्यों लगती है? इस ससार के सारे प्रयत्न इस क्षुधा को दूर करने के लिये ही क्यों किये जा रहे है? मनुष्य जितने पाप करता है, बेईमानी, ठगी, धूर्तता हिसा, चोरी उन सबका कारण यह क्षुधा ही तो है। यदि यह भूख न हो तो फिर विश्व में अशान्ति क्यों होती? आज संसार

के बड़े-बड़े राष्ट्र अपनी लपलपाती जिह्वा निकाले दूसरे छोटे राष्ट्रों को हड़पने की चिन्ता में क्यों है ? अतः भूख तो आत्मा को अवश्य लगती होगी।

इस शंका का उत्तर यह है कि वास्तव में आत्मा को भूख नहीं लगती है, यह तो सर्वदा क्षुधा, तृषा आदि की बाधा से परे है। तब क्या भूख शरीर को लगती है ? यह भी ठीक नहीं। मरने पर शरीर रह जाता है, पर उसे भूख नहीं लगती ! अतः शरीर को भूख लगती है, यह भी ठीक नहीं जँचता। अब प्रश्न यह है कि भूख वास्तव में लगती किसे है ? विचार करने पर प्रतीत होता है कि मनुष्य के शरीर के दो हिस्से है—एक दृश्य दूसरा अदृश्य। दृश्य भाग तो यह भौतिक शरीर ही है और अदृश्य भाग आत्मा है। इस शरीर में आत्मा का आबद्ध होना ही इस बात का प्रमाण है कि आत्मा में विकृति आ गयी है, इसकी अपनी शक्ति कर्मों के संस्कारों के कारण कुछ आच्छादित हैं। इसके आच्छादन का कारण केवल भौतिक ही नहीं है और न आध्यात्मिक। मूल बात यह है कि अनन्त गुणवाली आत्मा में अनन्त शक्तियाँ है। इन अनन्त शक्तियों में एक शक्ति ऐसी भी है, जिससे पर के संयोग से यह विकृत परिणमन करने लगती है। राग-द्वेष इसी विकृत परिणति के परिणाम

हैं, जिससे यह आत्मा अनादिकाल से कर्मों को अर्जित करती आ रही है।

कर्मों की एक मोटी तह आत्मा के ऊपर आकर मट गयी है जिससे यह आत्मा विकृत हो गयी है। इस मोटी तह का नाम कार्माण शरीर है, इसी में मनुष्य द्वारा किये गये समस्त पूर्व कर्मों के फल देने की शक्ति वर्तमान है। भूख मनुष्य को इसी शरीर के कारण मालूम होती है, यह भूख वास्तव में न आत्मा को लगती और न जड शरीर को, बल्कि यह कार्माण शरीर के कारण उत्पन्न होती है। भोजन करनेवाली भी आत्मा नहीं है, बल्कि भोजन करनेवाला शरीर है। कर्म जन्य होने के कारण उसे कर्म का विपाक मानना चाहिये। भोजन जड है, इससे ज़ड शरीर की ही पुष्टि होती है, चेतन आत्मा को उससे कुछ भी लाभ नहीं। यह भूख तो कर्म के उदय, उपशम से लगती है।

जब भोजन, वस्त्र, सोना, चाँदी आत्मा के स्वरूप नहीं, उनसे आत्मा का सम्बन्ध भी नहीं, फिर इनसे मोह क्यों ? यों तो कार्माण शरीर भी आत्मा का नहीं है, और न आत्मा में किसी भी प्रकार का विकार है, यह सदा चिदानन्द स्वरूप अखण्ड ज्ञानपिण्ड है। यह कर्म करके भी कर्मों से नहीं बन्धता है। व्यवहार नय से

केवल कर्मों का आत्मा से सम्बन्ध कहा जाता है, निश्चय से यह निर्लिप्त है। जब तक व्यक्ति कर्म कर उस कर्म में आसक्त रहता है, उसका ध्यान करता रहता है, उसका बन्धक है। जिस क्षण उसे आत्मा की स्वतन्त्रता और निर्लिप्तता की अनुभूति हो जाता है उसी क्षण वह कर्म बन्धन तोडने में समर्थ हो जाता है।

वैभव, धन-सम्पत्ति, पुरजन-परिजन आदि सभी पदार्थ पर है, अतः इनसे मोहबुद्धि पृथक् कर अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु के गुणो का स्मरण करना निज कर्त्तव्य है। जब साधक अपने को पहचान लेता है, उसे आत्मा की वास्तविकता अनुभूत हो जाती है; तो वह स्वय साधु, उपाध्याय, आचाय, अर्हन्त और सिद्ध होता चला जाता है। आत्मा की प्रसुप्त शक्तियाँ अपने आप आविर्भूत होने लगती है, उसकी ज्ञान-शक्ति और दर्शन-शक्ति प्रकट हो जाती है। मन, वचन, काय की जो असत् प्रवृत्ति अब तक ससार का कारण थी, जिसने इस जीव के बन्धन को दृढ किया है, वह भी अब सत् होने लगती है तथा एक समय ऐसा भी आता है जब भोग प्रवृत्ति रुक जाती है, जीव की परतन्त्रता समाप्त हो जाती है और निर्वाण सुख उपलब्ध हो जाता है।

ससार में आदर्श के बिना ध्येय की प्राप्ति नहीं होती है।

लौकिक और पारमार्थिक दोनों ही प्रकार के कार्यों की सिद्धि के लिये आदर्श की परम आवश्यकता है। आत्म-तत्त्व की उपलब्धि के लिये सबसे बड़ा आदर्श दिगम्बर मुनि ही, जो निर्विकारी है, जिसने संसार के सभी गुरुडम का त्याग कर दिया है जो आत्मा के स्वरूप में रमण करता है, जिसे किसीसे राग द्वेष नहीं है, मान-अपमान की जिसे परवाह नहीं, हो सकता है। ऐसे मुनि के आदर्श को समक्ष रखकर साधक तत्तुल्य बनने का प्रयत्न करेगा तो उसे कभी न कभी छुटकारा मिल ही जायगा। दिगम्बर मुनि के गुणों की चरम अभिव्यक्ति तीर्थंकर अवस्था में होती है, अतः समस्त पदार्थों के दर्शक, जीवन्मुक्त केवली अर्हन्त ही परम आदर्श हो सकते है।

साधक के लिये सिद्धावस्था साध्य है, उसे निर्वाण प्राप्त करना है। चरम लक्ष्य उसका मोहक संसार से विरक्त होकर स्वरूप की उपलब्धि करना है। जब वह अपने सामने अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु के स्वरूप को रख ले, उनके विकसित गुणों में लीन हो जाय तो उसे आत्म-तत्त्व की उपलब्धि हो जाती है। आडम्बर जन्य क्रियाएँ जिनका आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं, जो सिर्फ संसार का संवर्द्धन करने-वाली है, छूट जाती है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को अर्हन्त, सिद्ध,

आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु के गुणों का स्तवन, वन्दन और अर्चन करना चाहिये।

पडेदत्तिल्लवे पूर्वदोळ्धनवधूराज्यादि सौभाग्यमं-।
पडेदे तन्नमकारदिं पडेदेनी संसार संवृद्धियं।
पडेदत्तिल्ल निजात्मतत्वरुचियं तद्बोध चारित्रं।
पडेदंदागळे मुक्तियं पडेयेने रत्नाकराधीश्वरा! ॥२०॥

हे रत्नाकराधीश्वर!

क्या पहले धन, स्त्री, राज्य इत्यादि वैभव प्राप्त नहीं थे? और क्या इस समय वे वैभव प्राप्त हो गये हैं? क्या उन वैभवों के चमत्कार से इस ससार को स्मृद्धि प्राप्त हो गई है? पहले अपने आत्म-स्वरूप का विश्वास नहीं हुआ आत्मा में लीनता की प्राप्ति नहीं हुई। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र की प्राप्ति से ही मनुष्य को अवश्य ही मोक्ष की प्रप्ति हो सकती है॥ २०॥

विवेचन—इस जीव को अनादिकाल से ही धन, वैभव, राज्य आदि की प्राप्ति होती आई है। इसने जन्म-जन्मान्तरों से इन्द्रिय-जन्य सुखों को भोगा है, पर इसे आज तक प्रप्ति नहीं हुई। जिस प्रकार अग्नि में ईधन डालने से अग्नि प्रज्वलित होती है, उसी प्रकार विषय-तृष्णा के कारण इन्द्रिय-सुखकी लालसा दिनो-दिन बढ़ती जाती है। यह जीव इन विषयो मे कभी तृप्त नहीं होता। जैसे कुत्ता हड्डी को चबाकर अपने मसूडे से निकले

रक्त से आनन्द का अनुभव करता है, उसी प्रकार यह विषयी जीव भी विषयो में अपनी शक्ति को लगाकर आनन्द का आस्वादन करता है। आनन्द पर पदार्थों में नहीं है यह तो आत्मा का स्वरूप है, जब इसकी अनुभूति हो जाती है, स्वतः आनन्द की प्राप्ति हो जाती है।

विषय तृष्णा से इस जीव को अशान्ति के सिवाय और कुछ नहीं मिल सकता है, यह जीव अपने रत्नत्रय----सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को भूलकर मदोन्मत्त हाथी क समान विषयों की ओर झपटता है। एक कवि ने इन्द्रियजन्य सुखों का वर्णन करते हुए बताया है कि ये विषय प्रारम्भ में बडे सुन्दर म ।म होते है, इनका रूप बडा ही लुभावना है, जिसकी भी दृष्टि इनपर पडती है वहा इनकी ओर आकृष्ट हो जाता है पर इनका परिणाम हलाहल विष के समान होता है। विष तत्क्षण मरण कर देता है, पर ये विषय सुख तो अनन्त भवों तक संसार में परिभ्रमण कराते है। इनका फल इस जीव के लिये अत्यन्त अहितकर होता है। इसी बात को बतलाते हुए कहा है---

आपातरम्ये परिणामदु.खे सुखे कथं वैषयिके रतोऽसि।
जडाऽपि कार्यं रचयन् हितार्थी करोति विद्वान् यदुदर्कतर्कम्॥

इससे स्पष्ट है कि वैषयिक सुख परिणाम में दु.खकारक होता

है। इसमे क्षणिक शान्ति जीव को भले ही प्रतीत हो, पर अन्त में दु ख ही होता है। गर्भवास, नरकवास क भयंकर दु खों को यह जीव इसी क्षणिक सुख की लालसा क कारण उठाता है। जब तक विषाभिलासा लगी रहती है, आत्मसुख का साक्षात्कार नहीं हो सकता। जिन बाह्य पदार्थों में यह जीव सुख समझता है, जिनके मिलने से इसे प्रसन्नता होती है, और जिनके पृथक् हो जाने से इसे दु ख होता है क्या सचमुच में उनमे इसका कोई सम्बन्ध है? पर पदार्थ पर ही रहेंगे, उनसे अपना कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता है। जीव जब तक पर में अपनत्व रखता है तभी तक पर उनके लिये सुख, दुःख का कारण होता है, परन्तु जब पर से उसकी मोह बुद्धि हट जाती है तो उसे पर सम्बन्ध जन्य हर्ष विषाद नहीं होते।

ज्ञान, दर्शनमय संसार के समस्त विकारों से रहित, आध्यात्मिक सुख का भाण्डार यह आत्मतत्त्व रत्नत्रय की आराधना द्वारा ही अवगत किया जा सकता है। रत्नत्रय ही इस आत्मा का वास्तविक स्वरूप है, वही इसके लिये आराध्य है। उसी के द्वारा इसे परम सुख की प्राप्ति हो सकती है।

ओरगिर्दं कनसिंदे दुःखसुखदोळ्बाळ्वंते तानेळ्दु क-
ण्देरेदागळ्बयलप्प वोल्नरक तिर्यङ्मर्त्यदेवत्वदोळ् ॥

तरिसंदोप्पुव बाळ्केयी बयलवाळ नच्चि नित्यत्नमं ।
मरेवंतेकेयो निम्म नां मरेदेनो ! रत्नाकराधीश्वरा ! ॥२१॥

हे रत्नाकराधीस्वर !

सोया हुआ मनुष्य, स्वप्न मे सुख-दुःख का स्थिति में संसार का जैसा अनुभव किये रहता है वैसा ही देखता है। पर आँखें खुलते ही स्वप्न के दृश्य नष्ट हो जाते है, अपना भूला हुआ स्वरूप याद आ जाता है। नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव पर्याय में निर्विवादतः चक्कर खाता हुआ यह जीव नाशवान शरीर के ऊपर प्रेम रखकर शाश्वत आत्म स्वरूप को भुला दिया जैसा मैंने अपने आपको क्यों भुला दिया है ? ॥२१॥

विवेचन—यह जीव नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव इन चारों गतियों एव चौरासी लाख योनियों में निरन्तर अपने स्वरूप को भूले रहने के कारण भ्रमण करता चला आ रहा है। आत्मा शाश्वत है, कार्माण शरीर के कारण इसे अनेक नर, नारकादि पर्यायें धारण करनी पड़ती है। जब तक यह जीव विषयों के आधीन रहता है, जिह्वा स्वादिष्ट भोजन चाहती रहती है, नासिका को सुगन्ध अच्छी लगती है, कान को वारांगनाओ के गायन, वादन प्रिय मालूम होते है, आँखों को वनोपवन की सुषुमा अपनी ओर आकृष्ट करती है, त्वचा को सुगन्ध लेपन प्रिय लगता है तब तक यह जीव अपने स्वरूप को नहीं पहचान सकता है। इन्द्रियों की गति बडी तेज है, ये अपनी ओर जीव

को खींच लेती है। इन्द्रियों को सचालित करनेवाला मन है, इसी के आधीन होकर इन्द्रियों की विषयों में प्रवृत्ति होती है। भोजन, गायन-वादन, सुगन्ध लेपन, मनोहर अंगनाओं का निरीक्षण, सुन्दर सुगन्धित लेपन ये सब मन की ही माँगे है। मन की विषय-जन्य भूख इन्द्रियों के द्वारा पूरी की जाती है, अतः मन को जीतना सबसे आवश्यक है। मन की विषयों में गति-प्रति सेकण्ड एक अरब-तीन मील से भी अधिक है, यह सबसे तेज चलने वाला है। प्रत्येक रमणीक पदार्थ के पास, आसानी से पहुँच जाता है।

जब तक जीव इन्द्रियों और मन के आधीन रहता है, तब तक यह निरन्तर भ्रान्तिमान सुखों के लिये भटकता रहता है। कविवर बनारसीदास ने इन्द्रिय-जन्य सुखों के खोखलेपन का बड़ा ही सुन्दर निरूपण किया है—

ये ही है कुमति के निदानी दुखदोष दानी;
इन ही की संगतिसों संग भार बाहिये।
इनकी मगनतासों विभोको विनाश होय;
इनही की प्रीति सों नवीन पन्थ गहिये ॥
ये ही तन भाव कों बिदारै दुराचार धारै;
इन ही की तपत विवेक भूमि दहिये।

ये ही इन्द्री सुभट इनहिं जीते सोइ साधु,
इनको मिलायी सो तो महापापी कहिये ॥

अर्थ—इन्द्रियो और मन की पराधीनता कुगति को ले जानेवाली है, दु:ख और दोषों को देनेवाली है। जो व्यक्ति इनकी आधीनता कर लेता है—पञ्चेन्द्रियों के आधीन हो जाता है वह नाना प्रकार के कष्ट उठाता है। इन्द्रियों के विषयों में मग्न होने से आत्मा के गुण आच्छादित हो जाते है, व्यक्ति का वैभव लुप्त हो जाता है उसका सारा पराक्रम अभिभूति हो जाता है। इनसे—इन्द्रियों से प्रेम करने से अनीति के मार्ग में लगना पडता है। इन इन्द्रियों की आधीनता ही तप से दूर कर देती है, दुराचार की ओर ले जाती है, सन्मार्ग से विमुख कराती है। इन्द्रियों की आसक्ति ज्ञान रूपी भूमि को जला देती है, अतः जो इन इन्द्रियों को जीतता है, वही साधु है और जो इनके साथ मिल जाता है, इन्द्रियों के विषयों के आधीन हो जाता है, वह बड़ा भारी पापी है। इन्द्रियों की पराधीनता से इस जीव का कितना अहित हो सकता है, इसका वर्णन सभव नहीं। विवेकी जीवों को इन इन्द्रियों की दासता का त्याग कर स्वतन्त्र होने का यत्न करना चाहिये।

ससार में सबसे बड़ी पराधीनता इन इन्द्रियों की है। इन्होंने

जीव को अपने आधीन इतना कर लिया है कि जीव एक कदम भी आगे पीछे नही हट सकता है। इसी कारण जीव को चारों गतियों में भ्रमण करना पडता है। दिन-रात विषयाकाङ्क्षा के रहने से इस जीव को कल्याण की सुध कभी नहीं आती। जब आयु समाप्त हो जाती है, मरने लगता है, आँखों की दृष्टि घट जाती है, कमर झुक जाती है, मुंह से लार टपकने लगती है तो इस जीव को अपनी करनी याद आती है, पश्चात्ताप करता है, पर उस समय इसके पछताने से कुछ होता नहीं। अतएव प्रत्येक व्यक्ति को पूर्वा पर विचार कर चतुर्गति के भ्रमण को दूर करनेवाले आत्मज्ञान को प्राप्त करना चाहिये।

आत्मा में ज्ञान है, सुख है, शान्ति है शक्ति है, और है यह अजर-अमर। जो अत्मा सारे ससार को जानने, देखनेवाला है; जिसमे अपरिमित बल है, वह आत्मा मै ही हूँ। मेरा ससार के विषयों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं जो अपने आत्म बल पर पूर्ण विश्वास कर आत्म शक्ति को प्रकट करने की चेष्टा करता है, उसे कोई भी बिघ्न-बाधा विचलित नहीं कर सकती है। महान् विपत्तियों के समय भी उसकी आत्म श्रद्धा, विषय-विरक्ति और अटल विश्वास कल्याण से विमुख नहीं होने देते है। आत्मिक सुख शाश्वत है, चिरन्तन है इसे कोई भी मलिन नहीं

कर सकता है। अज्ञानावस्था में जो बन्ध किये हैं, उनके अतिरिक्त नवीन कर्मों का सम्बन्ध आत्मा के साथ नहीं होगा इस प्रकार दृढ़ विश्वास कर नाशवान् शरीर से आस्था छोड जो आत्म-विश्वास में लग जाता है, उसका कल्याण अवश्य हो जाता है।

जब तक जीव आत्मिक सुख को भूल भ्रान्ति-वश इन्द्रिय सुख को अपना समझता है, दुःख का अनुभव करता है। पाप या कालुष्य उसे कल्याण से विमुख करते हैं। पाप और पुण्य उसके स्वभाव नहीं, बल्कि ये विपरीत प्रयत्नों के फल हैं। जब आत्मा अपने निजी रास्ते पर आ जाता है तो ये पाप और पुण्य नष्ट हो जाते हैं। जीव में जैसे-जैसे दृढ आत्म-विश्वास प्रकट होता जाता है, कर्म सयोग जन्य-भाव पृथक् होते जाते हैं। इन्द्रियों के मोहक रूपों को देखकर फिसल जाना कायरता है. सच्ची वीरता इन्द्रियों को अपने आधीन करने में है। भाग्य या अदृष्ट तो अपना बनाया हुआ होता है, जब तक उसे जीव अपना समझता है, बन्धन का कार्य करता है, परन्तु जब जीव उसे अपने स्व-भाव से पृथक् समझ लेता है और अपने आत्मा को उससे निर्लिप्त मान लेता है तो फिर आस्रव और बन्ध दोनों ही तत्त्व उससे अलग हो जाते है। आत्मा में अनन्त शक्ति है उसका बड़ा भारी

महत्त्व है। अतः साधक को सदा अपनी अपरिमित शक्ति पर विश्वास होना चाहिये। उसे इन्द्रियो की वासना को बिल्कुल छोड़ देना चाहिये। इन्द्रियाँ, मनबल, वचनबल, कायबल, श्वासोच्छ्वास और आयु ये द्रव्य प्राण शाश्वत ज्ञान, आनन्द, अनन्त शक्ति आदि भावप्राणों से बिल्कुल भिन्न हैं। आत्मा पुण्य पाप से भिन्न है, कर्मों का सम्बन्ध इसके साथ नहीं है। आस्रव, बन्ध और संवर आत्मा के नहीं होते है, किन्तु यह आस्रव और संवर तत्त्वों का ज्ञाता है। इस प्रकार शरीर से मोह दूर कर आत्मिक ज्ञान को जाग्रत करना चाहिये।

इंदनादवने समंतु बरिसं नूरोंदहं कोटियिं।
हिंदत्तत्तलनेककोटियुगदिदत्तत्तलंभोधियि॥
वदत्तत्तलनादि कालदिननताकारदिं तिर्रेनल्।
वंदे नोदेननाथबंधु! सलहो रत्नाकराधीश्वरा!॥२२॥

हे रत्नाकराधीश्वर!

मैं जैसा इस समय शरीरधारी हू वैसा अनादिकाल से इस ससार में शरीर धारण करता आ रहा हूँ। आवागमन का चक्र घड़ी के चक्र के समान निरन्तर चल रहा है। हे भगवन! आप दीन-बंधु है, आप मेरी रक्षा करे!॥ २२॥

विवेचन—जैन सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता

नहीं है और न यह किसी को सुख दुःख देता है, जीव स्वयं अपने अदृष्ट के अनुसार सुख, दुःख को प्राप्त करता है। जो जिस प्रकार के कृत्य करता है, कार्मांण वर्गणाऍं उसी रूप में आकर आत्मा में सचित हो जाती हैं, और समय आने पर शुभ या अशुभ रूप में फल भी मिल जाता है। जब जीव स्वय ही कर्त्ता और फल का भोक्ता है तो फिर अपनी रक्षा के लिये भगवान की प्रार्थना क्यों की गयी है? भगवान तो किसी को सुख, दु ख देता नहीं, और न किसीसे वह प्रेम करता है। उसकी दृष्टि में तो पुण्यात्मा, पापात्मा, ज्ञानी, मूर्ख, साधु, असाधु सभी समान है। फिर प्रार्थना करनेवाले से भगवान प्रसन्न क्यों होगा? वीतरागी प्रभु में प्रसन्नता रूपी प्रसाद संभव नहीं। जैसे वीतरागी प्रभु किसी पर नाराज नहीं हो सकता है, उसी प्रकार किसी पर प्रसन्न भी नहीं हो सकेगा। अतः अपनी रक्षा के लिये भगवान को पुकारना कहाँ तक सभव है?

इस शका का समाधान यह है कि भगवान की भक्ति करने से मन की भावनाएँ पवित्र होती है, भावनाओं के पवित्र होने से स्वतः पुण्य का बन्ध होता है; जिससे जीव का उद्धार कुगति से हो जाता है। वास्तव में भगवान किसी का कुछ भी उपकार नहीं करते और न किसीको किसी भी तरह की सहायता देते

है। उनकी भक्ति, स्तुति, अर्चा ही मन को पूत कर देती है, जिससे जीव को पुण्य का आस्रव होता है और आगे जाकर या तुरन्त ही सुख की उपलब्धि हो जाती है। इसी प्रकार निन्दा करने से भावनाएँ दूषित हो जाती है, विकार जाग्रत हो जाते है जिससे पापास्रव होता है अतः निन्दा करने से दुःख की प्राप्ति होती है।

प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा में परमात्मा बनने की योग्यता वर्तमान है। मूलतः आत्मा शुद्ध है, इसमें परमात्मा के सभी गुण वर्तमान है। जब कोई भी जीव अपने सदाचरण, ज्ञान, और सद् विश्वास द्वारा अर्जित कर्म संस्कार को नष्ट कर देता है, अपने आत्मा से सारे कालुष्य को धो डालता है तो वह परमात्मा बन जाता है। जैन दर्शन मे शुद्ध आत्मा का नाम ही परमात्मा है, आत्मा से भिन्न कोई परमात्मा नहीं है। जब तक जीवात्मा कर्मों से बन्धा है, आवरण उसके ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य को ढके है, तब तक वह परमात्मा नहीं बन सकता है। इन समस्त आवरणों के दूर होते ही आत्मा ही परमात्मा बन जाता है। अतः यहाँ एक परमात्मा नहीं है, बल्कि अनेक है। सभी शुद्धात्माएँ परमात्मा है।

परमात्मा बनने पर ही स्वतन्त्रता मिलती है, कर्मबन्धन की

पराधीनता उसी समय दूर होती है। व्यवहार की दृष्टि से परमात्मा बनने में परमात्मा की भक्ति सहायक है। इनकी पूजा, गुण-स्तुति जीवात्मा को साधना के क्षेत्र में पहुँचा देती है। निश्चय की दृष्टि से जीवात्मा को अन्य किसी के गुणों के स्तवन की आवश्यकता नहीं, उसे अपने ही गुणों की स्तुति करनी चाहिये। अपने भीतर छुपे गुणों को उद्‌बुद्ध करना चाहिये। जीव निश्चय से अपने चैतन्य भावों का ही करता है और चैतन्य भावों का ही भोक्ता है। कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता तो व्यवहार की दृष्टि से है। अत: परमात्मा की शरण में जाना, पूजा करना आदि भी प्रारम्भिक साधक के लिये है; प्रौढ साधक के लिये अपना चिन्तन ही पर्याप्त है।

नाना गर्भदि पुट्टि पुट्टि पोरमट्टे रूपु जोहंगळ।
नानाभावदे तोट्टु तोट्टु नडेदे मेय्मेच्चि दूटगळ॥
नाना भेददोळु‌ंडुमुॅंडु तनिदे चिः सालदे कडु मि।
तेनय्या! तळुमळ्परे? करुणिसा! रत्नाकराधीश्वरा!॥२३॥

हे रत्नाकराधीश्वर!

अनेक प्रकार के प्राणियों के कुक्षि में जन्म लेकर आया हूँ। नाना प्रकार के आकार और वेष को धारण किया है। शरीर के लिए नाना कार्य किये है, तथा आहारादि को खाते-खाते तृप्त हो गया हूँ। तो भी

इच्छा की पूर्ति नहीं हुई। भगवन्! ऐसे दुःखियों को देख कर भी तुम दया नही करते, कृपा करो भगवन्! ॥ २३ ॥

विवेचन—भक्ति हृदय का रागात्मक भाव है। किसी महा पुरुष या शुद्धात्मा के गुणों में अनुराग करना भक्ति है। किन्तु शुभ भावात्मक भक्ति को ही धर्म समझ लेना अनुचित है। वास्तव में बात यह है कि शरीर एक स्वतन्त्र द्रव्य है, यह अनन्त अचेतन पुद्गल परमाणुओं का पिण्ड है। इसके प्रत्येक परमाणु के प्रत्येक गुण की प्रति समय में होनेवाली पर्याय इसमें स्वतन्त्र रूप से होती रहती है। आत्म-द्रव्य अरूपी, ज्ञायक स्वभाव-शरीर से भिन्न है, इसमें भी इसके प्रत्येक गुण की पर्याय प्रति समय में स्वतन्त्र रूप से होती रहती है। ये दोनों द्रव्य स्वतन्त्र हैं, दोनों के कार्य और गुण भी भिन्न-भिन्न है। एक द्रव्य की क्रिया के फल का दूसरे द्रव्य की क्रिया के फल से कोई सम्बन्ध नहीं। जो व्यक्ति बिना भावों के भक्ति करते है—शरीर से नमस्कार, मुँह से स्तोत्र पाठ तथा मन जिनका किसी दूसरे स्थान में रहता है वे शरीर की क्रियाओ के कर्त्ता अपने को मानने के कारण अशुभ का बन्ध करते है। यद्यपि व्यवहार की दृष्टि से यत्किञ्चित् शुभ का बन्ध उनके होता ही है, फिरभी वास्तविक धर्म के निकट वे नहीं पहुँच पाते है।

भाव सहित भक्ति करनेवाले भी पर द्रव्य की क्रिया का कर्त्ता अपने को मानने के कारण यथार्थ धर्म से कुछ दूर रह जाते हैं। जब जीव अपने निज आत्म स्वभाव को पहचान लेता है कि "मैं ज्ञाता द्रष्टा हूँ, पर द्रव्य से मेरा कुछ भी हित, अहित नहीं हो सकता है, मेरा वास्तविक रूप सिद्ध अवस्था में प्रकट होता है, वही मै हूँ , आत्मा अपने स्वभाव से कभी च्युत नहीं होता है। मै त्रिकाल में समस्त द्रव्य को जानने, देखने वाला हूँ, मै किसी अन्य द्रव्य का कर्त्ता, धर्त्ता नहीं हूँ। जो विकल्प इस समय आत्मा में उत्पन्न हो रहे है, वे मिथ्या हैं। इस प्रकार का श्रद्धान सम्यग्दृष्टि जीव को होता हैं। सम्यग्दृष्टि अपने भीतर वीतरागता उत्पन्न करने के लिये पंचपरमेष्ठी के गुणों का चिन्तन करता है, उनके गुणों में अनुरक्त होता है।

जब तक ससार और शरीर से पूर्ण विरक्ति नहीं होती है, आत्मा में अपनी निर्बलता के कारण विकल्प उत्पन्न होते है। सम्यग्दृष्टि जीव इन विकल्पों को दूर करने के लिये पूर्ण शुद्ध अवस्था को प्राप्त अरिहन्त और सिद्ध अथवा उनकी मूर्त्ति के सामने भक्ति से गद्-गद् हो जाता है, वह वीतरागता का चिन्तन करता हुआ वीतरागी बनता है। वीतरागी पथ के पथिक आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु परमेष्ठियों ये गुणों से अनुरंजित होता है, जिससे

पूजन, स्तवन किया होगा, पर भक्ति सहित आपका दर्शन, पूजन और स्तवन कभी नहीं किया। यदि ज्ञाता, द्रष्टा आत्मा की निज परिणति रूप भावना के साथ हे प्रभो आपके गुणों को अपने हृदय में धारण करता तो निज शुद्धात्मा की प्राप्ति हो जाती। मैं अब तक अपने स्वभाव से विमुख होकर ससार के दु:खों का पात्र बना रहा; क्योंकि भाव रहित---स्व स्वभाव की भावना रहित क्रियाएँ फल दायक नहीं हो मकती।

अभिप्राय यह है कि साधक भगवान् के समक्ष अपने शुद्ध चिदानन्द रूप स्वरूप को समझते हुए वर्तमान पुरुषार्थ की निर्वलता को दूर करनेका प्रयत्न करे, भगवान् के शुद्ध गुणों में अनुरक्त होकर अपने पुरुषार्थ को इतना तीव्र कर दे जिससे उसे अपने शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि हो जाय। उसके भीतर छुपी वीतरागता प्रकट हो जाय, मोह-क्षोभ का पर्दा हट जाय। भगवान के पुण्य गुणों का कीर्त्तन अपने शुद्ध आत्मा के गुणों का कीर्त्तन है, उनकी भक्ति अपनी ही भक्ति है। जब तक साधक बहिरंग दृष्टि रखकर मोहावृत्त रहता है, अपने मूल स्वभाव से दूर हटता जाता है, तब तक उसे भगवान की यथार्थ शक्ति नहीं मिलती।

व्यावहारिक दृष्टि से भी बिना भावनाओं के शुद्ध किये भक्ति करने से कोई लाभ नहीं। यह अनेक जन्म-जन्मान्तरों

से भावना शून्य-भक्ति करता चला आ रहा है, पर अब तक इसका उद्धार नहीं हुआ। प्रभु भक्ति करनेवाला संसार में कभी दु:खी, दरिद्री, रोगी, पातकी नहीं हो सकता है। उसकी कषायें मन्द हो जाती है। भगवान् की मूर्त्ति की अनुकम्पा से कलुषित भावनाएँ हृदय से निकाल जाती है, और वह शुद्ध हो जाता है। स्वामी कुन्द-कुन्द ने अपने प्रवचनसार में बताया है—

"जो अरिहन्त को द्रव्य, गुण और पर्याय रूप से जानता है, वह अपने आप को जानता है और उसका मोह अवश्य नष्ट हो जाता है। अभिप्राय यह है कि जो अरिहन्त का स्वरूप है, स्वभाव दृष्टि से वही आत्मा का स्वरूप है, जो इस बात को समझ कर दृढ आस्था कर लेता है, वह अपने पुरुषार्थ की वृद्धि द्वारा अपने चारित्र को उत्तरोत्तर विकसित करता चला जाता है। मोह अरिहन्त की भक्ति से दूर हो जाता है। आत्मा के गुणों को आच्छादित करने वाला मोह ही सब से प्रबल है, इसके दूर किये बिना निर्मल चारित्र की उपलब्धि नहीं हो सकती है। सच्चे देव, शास्त्र और गुरु की भक्ति करने से निजानन्द की प्राप्ति होती है, सम्यग्दर्शन निर्मल होता है, आत्मा का ज्ञान गुण प्रकट होता है और सदाचार की प्राप्ति होती है।

प्रभु-भक्ति वह रसायन है जिसके प्रभाव से अज्ञान, दुःख,

दैन्य, स्वभाव-हानि, पर परिणति की ओर जाना, मिथ्या प्रति-भास आदि बातें दूर हो जाती हैं और ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य-रूप निज परिणति की प्राप्ति होती है। ऐसा कौन सा लौकिक कार्य है जो प्रभु-भक्ति के प्रसाद से न किया जा सके। भक्त का हृदय दर्पण के समान निर्मल हो जाता है, उसकी अपनी समस्त शक्तियाँ उद्बुद्ध हो जाती है।

अय्यो! कुत्सितयोनियोळ्नुसुळ्वु देत्तानेत्त चिः नारु वी।
मेय्येत्तेन्नय निर्मल प्रकृतियेन्ति देहज व्याधियिं॥
पुय्यल्वेत्तिहुदेत्त लेन्न निजवेत्तोयूदेन्न निम्मत्त द-
स्मय्या रक्षिसु रक्षिसा तळुविदे रत्नाकराधीश्वरा!॥२४॥

हे रत्नाकराधीस्वर!

मल और दुर्गन्ध से युक्त इस निंद्य शरीर मे जाने के लिये क्या मैंने कहा? कि मेरा स्वभाव परिशुद्ध है? क्या मैने नही कहा कि इस शरीर से रोग और रोग से दु:ख उत्पन्न होता है? क्या मैंने नहीं कहा कि मेरा यथार्थ ऐसा स्वरूप है? हे धर्माधिपते! अपने हाथ का सहारा देकर आप मेरी रक्षा करें, इसमें विलम्ब क्यों प्रभो!॥ २४॥

विवेचन—यह जीव अपनी स्वपरिणति को भूलकर, अपने पुरुषार्थ से च्युत होकर इस निंद्य शरीर को धारण करता है। शरीर मल मूत्र का ढेर है, नितान्त अपवित्र है, जड़ है, इसका

आत्मा के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं। परन्तु मिथ्यात्व के वश जन्म-जन्मान्तरो से जो संस्कार अर्जित चले आ रहे है, उन्हीं के कारण इस जीव को इस निंद्य शरीर को धारण करना पडता है। यह जीव इस शरीर को धारण नही करना चाहता है, यह इसके स्वभाव से विपरीत होने के कारण अनिच्छा से प्राप्त हुआ है। अतः जब तक इस पर वस्तु रूप शरीर में अपनत्व की प्रतीति यह जीव करता रहेगा तब तक यह बन्धन से मुक्त नही हो सकता।

शरीर के साथ रोग, शोक, मोह आदि नाना प्रपच लगे हुए है। ये सब प्रतिक्षण परिणमन वाले पुद्गल की पर्यायें है। शरीर भी पौद्गलिक है और दु ख, शोक, रोग आदि भी पुद्गल के विकार से उत्पन्न होते है अतः जीव को सर्वदा रोग, शोक आदि को पर भाव समझ कर इनके आने पर सुखी-दुःखी नहीं होना चाहिये। साधक में जब तक न्यून्यता रहती है, वह अपने भीतर पूर्ण वीतराग चारित्र का दर्शन नहीं करता है, तब तक उसे पूर्ण-वीतराग चारित्र के धारी प्रभुओ की भक्ति करनी होती है।

भगवान के आदर्श से स्वतः अपने भीतर के गुणों को जाग्रत करना साधक का काम है। साधक भगवान को मोह,

राग, द्वेष, जन्म, मरण, बुढ़ापा आदि से रहित समझ कर उनके आदर्श द्वारा अपने को भी इन्हीं दोषों से रहित बनाता है। वह सोचता है कि हे प्रभो ! जो गुण तुम्हारी आत्मा में हैं, वे मेरी भी आत्मा में हैं, पर मैं उन्हें भूला हुआ हूँ। प्रभो ! तुम्हारे गुणों का चिन्तन करने से मुझे अपने गुणों का भान हो जाता है और उससे मैं 'स्व' और 'पर' को पहचानने लगता हूँ। इस कारण मैं अनेक आपदाओं से बच जाता हूँ। मैं आपके गुणों के मनन से शरीर, स्त्री, पुत्र, कुटुम्बी, धन, वैभव आदि मेरे स्वभाव से विपरीत हैं, इस बात को भली भाँति समझ जाता हूं। प्रभो ! जीवन का ध्येय समस्त दूषण और संकल्प-विकल्पों से मुक्त हो जाना है। शुभ और अशुभ विभाव परिणति जब तक आत्मा में रहती है, अपना निजी प्रति-भास नहीं होता। अतः हे प्रभो ! आपके गुण कीर्तन द्वारा अपने पराये का भेद अच्छी तरह प्रतीत होने लगता है।

इस प्रकार की भक्ति करने से प्रत्येक व्यक्ति अपना कल्याण कर लेता है। प्रत्येक व्यक्ति का उत्थान अपने हाथ में है। भगवान भक्त के दुःख को या जन्म मरण को दूर नहीं करते, क्योंकि वे वीतरागी है, कृतकृत्य हैं, संसार के किसी भी पदार्थ से उन्हें राग-द्वेष नहीं, पर उनके गुणों का स्मरण, मनन,

चिन्तन और पर्यालोचन करने से शुद्धात्मा की अनुभूति होने लगती है जिससे जीव स्वतः अपने कल्याण मार्ग में लग जाता है साधक के चचल मन को भक्ति स्थिर कर देती है, भक्ति के अवलम्बन से साधक अपनी अनुभूति की ओर बढ़ता है। यही भगवान की रक्षा करना है, यही उनका साधक को सहारा देना है।

दारिद्र्यं कविदंदु पायुदु पगेगळ्मासंकेगोंडंदु दु-
विर व्याधि गळोत्तिदडु मनदोळ् निर्वेग मक्कुं वळि- ॥
क्कारोगं कळेददु वैरि लय वादंदर्भ वादंदि दे- ।
वैराग्यं तलेदोर दंडिसुवुदो ! रत्नाकरा धीश्वरा ! ॥२५॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

दरिद्रता के समय, शत्रु के आक्रमण से भयभीत हो जाने के समय तथा दुसाध्य रोग से आक्रान्त हो जाने से मनुष्य मे वैराग्य उत्पन्न होता है। किन्तु व्याधि के नष्ट होने, शत्रु के परास्त होने तथा सम्पत्ति के पुन प्राप्त होने पर यदि वैराग्य उत्पन्न न हो तो संसार से पृथक् नही हुआ जा सकता, भावार्थ यह कि सुख मे वैराग्य का उत्पन्न होना श्रेयस्कर है ! ॥ २५ ॥

वीचन—मनुष्य को दुःख आने पर, दरिद्रता से पीडित होने पर, असाध्य रोग के हो जाने पर, किसी बड़े संकट के आने पर, तथा किसी की मृत्यु हो जाने पर ससार से विरक्ति होती है।

अस्तित्व रखते है, अतः इन्हें मैं अपना क्यों समझ रहा हूँ ये कुटुम्बी आज मेरे है, कल नहीं भी रहेंगे। दूसरा शरीर धारण करने पर मुझे दूसरे कुटुम्बी मिलेंगे अत. यह रिश्ता नहीं, झूठा है। संसार स्वार्थ का दास है, जब तक मुझसे स्वार्थ की पूर्त्ति दूसरों की होती है, तब तक वे मुझे अपना मानते है, स्वार्थ के निकल जाने पर कोई किसीको नहीं मानता। अतः मुझे अपने स्वरूप में रमण करना चाहिये।

मेय्योळ्तोरिद रोगदिं मनके वंदायासदिं भीति ब –
ट्टय्यो ! एंदोडे सिद्धिये जनकनं तायं पलुंवल्क दें– ॥
गेय्यल्कार्परो तावु मुम्मळिसुवकूंडेदोडा जिन्हेये–
म्मय्या ! सिद्धजिनेशयंदोडे सुखं रत्नाकराधीश्वरा ! ॥२६॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

शरीर के दु ख से दु खित होकर अपनी व्यथा को प्रकट करने के लिए मनुष्य 'हा' ऐसा शब्द करता है। किन्तु ऐसा कहने से क्या अपने स्वरूप की प्राप्ति होगी ? रोग से आक्रान्त होकर यदि माता-पिता का कोई स्मरण करे तो क्या वैसा करने से उसको रोग से छुटकारा मिलेगा ? जो लोग ऐसा करते हैं वे अपने लिए दु ख को ही बुलाते है। ऐसा समझ कर ऐसे समय में जो अपने पूज्यसिद्ध, परमेष्ठी जिनेश्वर ,का

स्मरण करता है वही सुख का अनुभव करता है ॥२६॥

विवेचन— शारीरिक कष्टके आने पर जो व्यथा से पीडित होकर हाय-हाय करते हैं, उसमे अशुभ कर्मोंका और बन्ध होता है। रोग और विपत्ति में विचलित होने से सकट और बढ जाता है अतः धैर्य और शान्ति के साथ कष्टों को सहन करना चाहिये। सहन शीलता एक ऐसा गुण है, जिससे आत्मिक शक्तिका विकाश होता है। दुःख पडने पर पश्चाताप या शोक करने से असाता वेदनीय—दुःख देनेवाले कर्मका आस्रव होता है। श्री आचार्य उमास्वामि महाराजने बताया है।

दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिवेदनान्यात्मपरोभयस्थानान्यसद्वेद्यस्य ।

दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध, परिवेदन निज आत्मा में, पर में या दोनों में स्थित असातावेदनीय के बन्ध हेतु है। बाह्य या आन्तरिक निमित्त से पीडा का होना दुःख है। किसी हितैषी के सम्बन्ध छूटने से जो चिन्ता व खेद होता है वह शोक कहलाता है। अपमान से मन कलुषित होने के कारण जो तीव्र संताप होता है वह ताप कहलाता है। गदगद् स्वर से आंसू बहाते हुए रोना-पीटना आक्रन्दन है। किसी के प्राण लेना वध है, किसी व्यक्ति का विछोह हो जाने पर उसके गुणों का स्मरण कर करुणा-जनक क्रन्दन करना परिवेदन है। इन छः प्रकार के दुःखों के करने